छाया मत छूना मन
हिमांशु जोशी
८१३.३
हिमां/छा

छाया मत छूना मन

हिमांशु जोशी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 364

छाया मत छूना मन

(उपन्यास)

हिमांशु जोशी

तृतीय संस्करण : 1983

मूल्य : 14 रुपये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

बी/ 45-47 कनॉट प्लेस

नयी दिल्ली-110001

मुद्रक

सविता प्रिन्टर्स

शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : करुणा निधान

CHHAYA MAT CHHOONA MAN : Novel by Himanshu Joshi
Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001, Printed at Savita Printers, Shahdara, Delhi-110032
Third Edition 1983, Rs 14.00
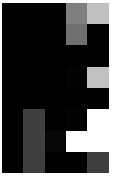
दो आखर

प्रिय देवेन,

जो सुना, सच न लगा।

ऋचा ने बताया तुम यहाँ तक खोजते आये : मैं न मिल सका। सच तो इन दिनों अजीब-सी मनःस्थिति में रहा।

ज़िन्दगी से हारे-थके-से तुम जब अन्तिम बार मिले थे, तब की तुम्हारी मुद्रा आँखों के आगे घूमती रही है। वे शब्द कानों में अब तक गूँज रहे हैं। सहसा कितने भावुक हो आये थे तुम ! मेरे प्रश्नों से बचने के लिए सामने टंगे कैलेण्डर की ओर अपलक देखते रहे थे—

सागर में डूबता सूरज ! जलता हुआ भीगा किनारा ! अधजले ठूँठ-से आबनूसी खम्भे पर अटके रीते जाल ! लगता था—मोम की तरह पानी पर कुछ पिघल रहा है जो चित्र से सरककर धीरे-धीरे दीवार पर फैल जायेगा !

तुम्हें शायद सच न लगे, पर वह पिघला हुआ रंग दीवार पर सचमुच ही बिखर गया है आज। समेटे हुए जाल और लौटते हुए जल-पाँखियों की टोलियाँ उस छोटे-से आकाश में पंख फड़फड़ाते हुए साफ़ दिखाई देती हैं।

सामने शून्य पर निराधार अटकी तुम्हारी सूनी आँखें क्या खोज रही थीं उस दिन ? कसक की कड़वी घूँट भीतर ही भीतर पीते तुम्हारे गले में कुछ अटक-सा क्या रहा था ? क्यों तुम्हारे चेहरे पर एक विचित्र-सी वेदना घिर आयी थी ?

तुम देर तक यों ही कुछ उड़ीकते-खोजते-से बैठे रहे थे। जानता था किसी की तलाश तुम्हारी उदास आँखों को अब न थी। खोजतीं ही किसे वे अब ! फिर भी एक ठहराव : कोई टिकाव ? नहीं; इससे परे, बहुत-बहुत परे, तुम कुछ और ही जोह रहे थे।

यह सब होगा, जानता था : समझ रहा था। उस दिन तुम आये, तुम्हें देखते ही समझ गया था।

कुछ ही तो दिन हुए थे जब मेडिकल इन्स्टीट्यूट की तीसरी मंज़िल से तुम्हें झाँकते हुए देखा था। हाथ में काँपती एक्स-रे प्लेट थीं। डॉ. माथुर से सब जान आया था।

तुम्हारा बम्बई ले जाने का आग्रह ठीक था। ले जाया गया होता, देवेन, तो शायद...शायद...! पर उसके लिए तब समय ही कहाँ रह गया था। माथुर ने साफ़ कह दिया था : अब कहीं कोई उपाय नहीं है; जो दिन हैं : किसी तरह जी लेने दो !

उस रात नींद तो आती भी क्या ! सवेरा होते न होते पहुँचा तो टैक्सी जा चुकी थी ! सामने हलकी धूल-धूल-सी थी; दूर, बहुत दूर होती, किसी छोटे-से कुत्ते के भूंकने की आवाज़ थी; और द्वार पर दीवार के सहारे खड़ी कोई वृद्धा सिसक-सिसककर रो रही थी।

लौट आया भारी मन और भारी डगों। सोचता : यह क्या हुआ, क्यों हुआ ? फिर लगता : यह 'क्या' और 'क्यों' भी क्या आज के लिए कोई असहज बात है ? और चुप का चुप बना तुम्हारे पत्र की राह देखा किया। एक बार जाने की भी सोची। पर वह शायद उचित नहीं ही होता।

● ●

इस वर्ष हम लोग वहाँ गये।

ऋचा पूछ उठी : कौन-सा है वह होटल ? और मैंने जितना ही टालना चाहा उतनी ही उसकी हठ बढ़ती गयी। हारकर एक दिन ले गया। काश जाना बचा सका होता ! पर ऋचा ने शायद भाँप लिया था और उसने
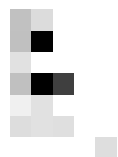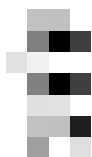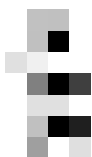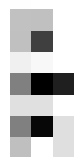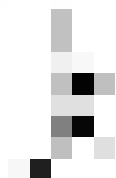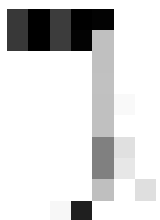
कुछ भी पूछा नहीं।

जिस कमरे में तुम ठहरे थे उसमें एक कोई नवदम्पति थे। दोनों खिड़की से झुककर सामने की हरी-हरी झील पर हवा से उभरती-उठती सिलवटों को एकटक देख रहे थे। कहीं-कहीं पर जल सूरज की किरणों से पारे की तरह चमक रहा था। सारे पेड़ झील पर को झुक-से आये थे—सारे पहाड़ !

महिला दूर से वैसी ही लग रही थी जैसी वसुधा का वर्णन तुमने दिया था। वैसी ही गहरे पिंक कलर की साड़ी, उसी रंग की कलाइयों में ढेर सारी चूड़ियां ! और कितने अचरज की बात देवेन, कि पीछे से देखने पर वह पुरुष भी तुमसे मिलता-जुलता था ! हम द्वार से ही लौट आये। उन्हें भान तक न हुआ होगा कि कौन आया और क्यों उलटे पाँव चला गया।

शाम को टिफ़िन टॉप भी गये।

देर तक देवदारों में भटकते रहे। ऋचा ने अन्त में वह वृक्ष भी खोज लिया जिस पर वसुधा ने तुम्हारा नाम अंकित किया था। एक-एक अक्षर अब भी उसी तरह ताजा था। और उसी तरह खड़ा था वह वृक्ष !

तुमने जैसा बताया था, ठीक उसी तरह उस दिन भी साँझ थी। उसी तरह सूरज डूब रहा था। और उसी तरह पूर्णिमा का चाँद भी लड़िया-काँटा के डाँडे से उझक-उझककर झाँक रहा था। झील पर रंग-बिरंगी छोटी-छोटी पालदार नावें तैर रही थीं। नीचे उतरते समय डाँडी में बैठी एक रुग्णा तरुणी और साथ चलता उसका सहचर मिले।

क्यों उस समूची यात्रा में तुम्हारी उपस्थिति का एहसास होता रहा देवेन ? क्यों रात को पल-भर के लिए भी पलकें न लग पायीं ? क्यों पागलों-सा माल रोड पर भटकता रहा ?

फिर वहाँ कभी भी न आने की सौगन्ध खाकर लौटा तो चण्डीगढ़ से लिखा आया तुम्हारा पत्र पड़ा था।

पढ़ते-पढ़ते तुम्हारी वही आकृति सामने आ रही। हाँ वही—जब तुम आये थे : टूटकर, बिखरे-बिखरे, होते भी न हुए जैसे; और एकदम से सोफ़े में धँसकर आँखें मूँदे जड़वत् बैठ गये थे !

किसी तरह तुमने बताया कि अस्थियाँ यमुना में प्रवाहित करने तुमसे जाते न बना। पोटली आले में रखकर यों ही गूँगे-से लौट आये थे। और फिर, फिर पता नहीं किस रौ में क्या-न-क्या एक साँस सुना गये थे।

उन तमाम टुकड़े-टुकड़े घटनाओं को एक दिन कहानी में पिरोकर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में दे दिया तो तुम जैसे बौखला गये थे। यहाँ तक लिखा तुमने कि तुम्हारी इन नितान्त अन्तरंग बातों के साथ यह सब क्यों किया मैंने, और करने ही चला तो क्यों वसुधा के बारे में सारी बातें सच-सच नहीं लिखीं—वह तो इससे हज़ार गुना उदार थी !

पर तुम ही बताओ देवेन, मैं यदि सब सच-सच लिख देता तो वह हर किसी को झूठी नहीं लगती ?—अस्वाभाविक ? आज की दुनिया में ऐसी, माँ और बहन के लिए अपने को निर्ममता से होम कर देनेवाली वसुधा की कल्पना भी कौन कर सकेगा ?

तुम्हारा पत्र उन हज़ारों पाठकों के पत्रों में मिल गया है जो इस उपन्यास के 'साप्ताहिक' में आने के बाद मिले।

किसी ने लिखा : "मैं ही वसुधा हूँ। मेरी माँ भी ठीक वैसी ही है जैसी वसुधा की माँ थी। मेरी छोटी बहन का नाम भी कंचो है। आपने मेरी कहानी कहाँ से सुनी...?"

उपाध्याय के बारे में कभी तुमसे चर्चा आयी थी। एक दिन 'हिन्दुस्तान टाइम्स' विंग में मिल गये तो घेर लिया : "यह तो मेरी कहानी है; आप क्योंकर लिख सके...।"

वाराणसी से तृप्ता का पत्र था : "ग्यारह बार पढ़ी आपकी यह रचना। रात को स्लीपिंग पिल्स खाकर ही सो पाती थी। एक तरह का मेनिया ही कहेंगे न इसको !"

एक पत्र बिना हस्ताक्षर का था : "कॉलेज से लौटने पर 'साप्ताहिक' के दो-चार पन्ने पलटे कि पूरा उपन्यास पढ़ गयी। तब तक बच्चे स्कूल से
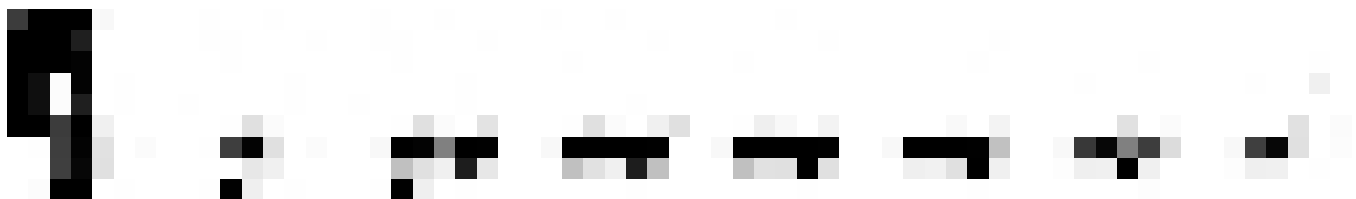
लौट आये थे। मेरी आँखों में आँसू देखकर वे सहम-से आये। कन्नी कहने लगी : 'मम्मी, तुम रो क्यों रही हो?' मैं क्या जवाब देती ! बच्चे भूखे थे। आँच पर पतीली तक चढ़ी न थी..."

लखनऊ से किसी पाठिका की शिकायत थी : "आप मुझे नहीं जानते। सचिवालय में काम करती हूँ। ऑफ़िस आकर बैठी ही थी कि पासवाली मेज़ पर 'साप्ताहिक' का अंक दिखा। पन्ने पलटते पता नहीं कब उपन्यास शुरू हुआ, कब ख़त्म। जागी तो साथ काम करनेवाली लड़कियाँ अपने-अपने लंच बॉक्स लिये मेरे पास खड़ी थीं। अचरज से देख रही थीं कि मैं रो क्यों रही हूँ। आप कल्पना कीजिए मेरी क्या स्थिति होगी !"

सच तो, तुम्हारी ही नहीं देवेन, यह अब बहुतों की कहानी बन गयी है।

फिर भी तुम्हारा नाराज़ होना अस्वाभाविक न था। त्रुटियाँ भी हुई ही होंगी मुझसे। लेकिन मेरा उद्देश्य तुम्हें कष्ट पहुँचाने का कभी नहीं रहा।

वसुधा के जो पत्र नैनीताल से लौटते समय तुम छोड़ गये थे वे सब सुरक्षित हैं। उन्हें भी इन पत्रों के साथ रख दिया है। ये पत्र भी तो एक प्रकार से वसुधा के ही लिए थे, उसी के कारण लिखे गये ! ये सब भी तुम्हारी ही धरोहर हैं।

उस घर की ओर अब भी कभी-कभी जाता हूँ—जहाँ वसुधा रहती थी, जो हमारे घर से अधिक दूर नहीं, जहाँ तुम्हारी झलक दिख जाती थी, और जहाँ अब तुम कभी नहीं आओगे !

तुम्हारी कहानी अब पुस्तक के रूप में आ रही है। पहली प्रति पर तुम्हारा नाम लिखकर, उसे भी तुम्हारे पत्रों में रख दूँगा। तुम्हारी धरोहर रहेगी यह भी।

ए-2/182, सफदरजंग एन्क्लेव,
नई दिल्ली

हिमांशु तुम्हारा

• •
• •

"अरे, तुम !"

वह अचरज से देखती रही। अपनी आँखों पर उसे विश्वास ही न हुआ।

"कब आये ?" उसने चहककर कहा।

"बस, चला ही आ रहा हूँ। तार नहीं मिला क्या ?"

वसुधा ने यों ही मुसकराने का प्रयास किया, "तार देते तो क्या यहाँ तक नहीं पहुँचता ?"

"नहीं, नहीं ! मैंने डाकखाने जाकर ख़ुद भेजा, और तुम कहती हो मिला नहीं...! बड़ी 'स्ट्रेन्ज' बात है !"

वसुधा हँस पड़ी, "इसमें परेशान होने की क्या बात है ? नहीं मिला तो नहीं मिला, बस्स...!"

अटैची और बैग उठाकर अन्दर रख दिया उसने।

"बोलो, क्या लोगे ? 'हॉट' या 'कोल्ड' ?"

"अभी तो आया ही हूँ। जरा साँस लेने दो। फिर 'हॉट' भी लूँगा और 'कोल्ड' भी !" पास ही रखी कुरसी पर बैठकर शरारत से देखने लगा वह।

"बड़ी भीड़ थी कालका-मेल में। कहीं तिल धरने को भी जगह न मिली !" जूते के तसमे खोलता हुआ बोला, "आदमी बोरे की तरह भरे पड़े थे...। कॉलिज के कुछ छोकरों ने किसी महिला को छेड़ा और फिर उसके कपड़े नोच लिये। लोग देखते रहे, लेकिन किसी ने कुछ न कहा।

आर. पी. एफ. के जवान भी पास ही खड़े थे। सरकार नाम की कोई चीज़ नहीं रह गयी इस मुल्क में। बस अन्धेर है !"

वसुधा सोफ़े पर बिखरे कपड़ों को जल्दी-जल्दी उठाने लगी। हैंगर पर टाँगती हुई बोली, "सरकार नाम की कोई चीज़ रही या नहीं देवेन, लेकिन इतना अब मुझे भी लगने लगा है कि भगवान नाम की कोई वस्तु नहीं है ! होती तो दुनिया में अन्धेर न होता।"

उसने गहरी साँस ली। छोटे-मोटे गन्दे कपड़ों को तौलिये में लपेटकर झट से चारपाई के नीचे डाल दिया।

देवेन देखता रहा। फिर हँसता हुआ बोला, "अरी, ऐसा नहीं कहते ! तुम तो 'पुजारिन' हो ! सामने तुम्हारे किशन-कन्हाई हैं। सुनेंगे तो क्या कहेंगे !"

दोनों हँस पड़े, एक साथ।

आराम से दूर तक पाँव फैलाकर, गरदन सोफ़े की पीठ पर झुकाकर, छत पर तेज़ी से घूमते पंखे की ओर देखता रहा वह।

"कंचन कहाँ है ?" उसे जैसे सहसा याद आया।

"होगी कहीं मटरगश्ती में ! घर से उसे क्या ? कभी-कभी तो अब रात को भी नहीं लौटती ! माँ उसे कहीं का भी न रख छोड़ेंगी !" वसुधा की आकृति में अजब-सी उदासी उभर आयी। देवेन के जूते क़रीने से रखती हुई बोली, "अन्धेर है देवेन, अन्धेर !"

देवेन की आँखें मुँदी थीं। रात-भर के सफ़र से वह काफ़ी थका-थका लग रहा था। पलकें नींद से बोझिल थीं। शरीर शिथिल !

वसुधा रसोईघर में घुसकर जल्दी-जल्दी नाश्ता तैयार करने लगी। अँगीठी पर चाय का पानी रखा और स्टोव पर पतीली चढ़ाकर कुछ तलने लगी।

● ●

उन दिनों के बारे में सोचने लगी वसुधा जब देवेन दिल्ली में था। 'कृष्णा कमर्शियल एकेडमी' में दोनों साथ-साथ टाइपिंग सीखा करते थे। एकेडमी का मालिक शर्मा टाइप का अभ्यास कराते समय अनायास उसकी

अँगुलियाँ छू लिया करता था। छुट्टी के दिन भी उसे टाइप सिखाने के लिए बुलाता रहा, लेकिन उसका इरादा भाँपकर वही न गयी कभी।

अच्च ! कैसी भौंड़ी आकृति थी शर्मा की ! चेहरे पर चेचक के भद्दे दाग़ और लाल-लाल आँखें—शराबियों-जैसी ! उसकी ओर देखते डर-सा लगता।...ग्रोवर कहती थी मिस विमला से उसके बड़े गहरे ताल्लुक़ात रहे। छुट्टी के दिन वह नियमित आती थी। कभी-कभी अपनी सहेलियों को भी साथ लाती। शर्मा के दोस्तों की कमी न थी। जिससे जब काम निकालना होता, बुला लेता। ...विमला अब 'फ़ूड मिनिस्टरी' में स्टेनो है !

किसी मिनिस्टरी में नौकरी पाने की तमन्ना वसुधा की भी थी, लेकिन इस तरह नहीं।

माँ आये दिन झिड़कती-कड़कती रहती, कभी-कभी गरज भी पड़ती, "तेरी साथ की सब लड़कियाँ हिल्ले से लग गयीं और तू उम्र-भर टाइपिंग ही सीखती रहेगी ! तुझसे तो कंचो लाख गुना अच्छी। वक़्त को पहचान-कर चलती तो है !"

"चलने दो उसे वक़्त के साथ माँ ! मुझे बख़्श। मुझसे नहीं होगा वह सब !"

"अरी मरजानी, तुझसे कुछ क्यों होगा ? जिसे दो वक़्त पेट में ठूँसने को रोटियाँ मिल जायें, वह क्यों करे मिहनत ! देख न, सामने वैद के घर नौ-नौ सौ रुपये महीने आ रहे हैं। तीनों लड़कियाँ हैं, तीनों कमा रही हैं।"

वसुधा इन बातों का क्या उत्तर देती ! चुपचाप टल जाती।

● ●

शर्मा ने मौक़ा देखकर, एक दिन उसे कैबिन में बुलाया। घर की स्थिति के बारे में विस्तार से पूछता रहा, साथ ही हमदर्दी भी जतलाता रहा। तुम्हारे पिता कब से बीमार हैं ? दिल्ली में अच्छे-अच्छे अस्पताल हैं, कहीं इलाज क्यों नहीं करवाया ? उसकी अच्छी जान-पहचानें हैं, वह सहायता कर सकता है। रिश्तेदार तो होंगे बहुत-से, वे कोई हेल्प क्यों नहीं करते ? इनसान पर गर्दिश आती है तो उसकी मदद करनी चाहिए। यह तो इनसानियत का धरम है...।

उस महीने उसने फ़ीस लेने से भी इनकार कर दिया था।

जिस तरह यह सब हो रहा था, वसुधा उससे परेशान थी। स्वभाव संकोची था। दो-टूक कहने की आदत न थी। वैसे संस्कार ही न रहे कभी।

देवेन तब उसकी बग़ल में बैठता था। एक दिन वस्तु-स्थिति ताड़कर बोला, "शर्मा की नीयत ठीक नहीं लगती। शाम को चलेंगे। सेण्ट्रल मार्केट में एक और टाइपिंग स्कूल है। वहाँ पूछेंगे!"

तभी शर्मा ने बुलाया वसुधा को। चाय के साथ-साथ मक्खन-टोस्ट भी खिलाता रहा। अन्त में उसने निर्लज्ज ढंग से जो प्रस्ताव रखा उसे सुनकर वसुधा घबरा गयी।

उस दिन अपनी सीट पर आकर उससे टाइप न हो सका। अँगुलियाँ ग़लत बटनों पर जा पड़तीं। बार-बार कुछ का कुछ टाइप हो जाता।

हाथ काँप रहे थे उसके, अँगुलियाँ काँप रही थीं, सारी देह ही काँप रही थी। जैसे शब्द शर्मा ने कहे, वैसे आज तक कभी उसने सुने न थे।

समय से पहले ही उठकर वह चली आयी।

अभी फ़ीरोज़ गान्धी रोड के चौराहे तक पहुँची ही थी कि पीछे से देवेन ने पुकारा।

वसुधा ठिठक गयी।

"जल्दी क्यों उठ आयी आज?"

"यों ही...।"

देवेन उसके चेहरे की ओर अपलक ताकता रहा, "तुम्हें क्या हो गया? घबरायी-घबरायी-सी क्यों हो?"

"कहाँ तो!" यों ही हँसने का प्रयास किया वसुधा ने।

"तो चलो, सेण्ट्रल मार्केट में पूछ लें अभी!"

"नहीं, आज नहीं...।"

वसुधा चली गयी।

उस रात वह बहुत रोयी।

दूसरे दिन टाइप सीखने न गयी तो शाम को देवेन स्वयं चला आया।

वसुधा उदास थी। शायद माँ से भी कुछ कहा-सुनी हो गयी थी।

सुबह खाना भी नहीं खाया उसने। चेहरा काफ़ी लटका हुआ था।

देवेन चला गया तो वह साँझ देर गये तक पार्क में अकेली बैठी रही।

● ●

उस दिन देवेन के साथ उसके घर गयी पहली बार। घर में कोई न था। उसकी बिखरी किताबें, उसके इधर-उधर फैले कपड़े—वसुधा ने क़रीने से तहाकर रख दिये थे। सवेरे के जूठे बरतन माँज दिये थे और स्वयं चाय बनाकर उसे पिलायी थी।

देवेन की माँ प्रायः गाँव में ही रहा करती थीं। लम्बा-चौड़ा कारोबार था वहाँ। अतः न गाँव को छोड़ पाते, न हर हमेशा वहाँ रह ही सकते थे वे लोग!

पिता सुबह ऑफ़िस चले जाते और रात को ही लौटते। दिन-भर देवेन अकेला रहता। बी. ए. से अधिक वह पढ़ न पाया था। इसी में तीन-चार साल लगा दिये थे। पिता का इरादा उसे टाइपराइटिंग-शॉर्टहैण्ड सिखाकर कहीं छोटी-मोटी नौकरी में लगा देने का था। उनके एक-दो मित्रों ने आश्वासन भी दिया था।

जो कुछ पैसे उसे जेब-ख़र्च के लिए मिलते, उसका आधा वह वसुधा को दे दिया करता था।

अस्वस्थता के कारण जब से वसुधा के पिता की नौकरी छूटी, दिन में ही तारे छिटक आये थे। घर की हालत एकदम बिगड़ गयी थी।

पिता का आधा अंग बेकार हो गया था, लकवे के कारण। दिन-रात बिस्तर पर पड़े रहते। माँ का उग्र स्वभाव और भी उग्र हो आया था अब। आये दिन घर में महाभारत मचा रहता। सारी बातों के लिए रुग्ण पिता को ही दोषी ठहराया जाता, या फिर वसुधा को।

घर में रहना वसुधा के लिए कठिन हो आया था। पिता की दयनीय स्थिति देखी न जाती, उसपर माँ अकारण झिड़क देती। डबडबायी आँखों से पिता तब छत पर कुछ खोजने लगते, विवश भाव से।

यही सब देखते-सोचते वसुधा ने पढ़ाई छोड़ दी थी। नौकरी की तलाश में दिनों इधर-उधर भटकती रही थी। लेकिन बिना टाइपिंग पूरा
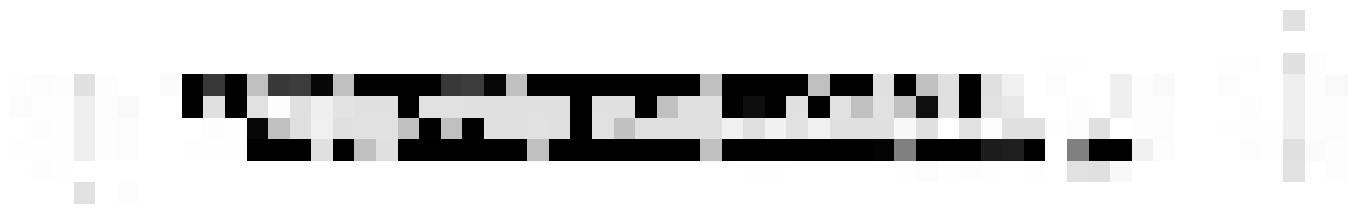
सीखे नौकरी देने भी कौन लगा !

पाँच-छह महीने तो माँ फ़ीस देती रही, लेकिन बाद में वह बन्द हो गयी। देवेन अब सारी व्यवस्था ख़ुद कर देता था, किसी तरह।

एक बार धोती बिलकुल फट गयी थी। सिलाई करके पहनने लायक़ भी न रह गयी तो टाइप सीखने न जा सकी। तब देवेन ने अपने सूट के कपड़े के लिए मिले पैसों में बचत करके एक कम दाम की धोती उसके लिए ख़रीद दी थी।

उसे देखते ही माँ बिफर पड़ी थीं, "अब लायी न यह भिखमंगों-जैसी ! ज़िन्दगी में जीने के लिए बस्सो, अकल चाहिए, अकल ! किशन, खन्ना से मिलाने को कहता था, लेकिन तब ऐंठ में रही, न गयी ! और अब भुगत अपने हाल !"

"मैंने तो तुमसे कोई शिकायत नहीं की चाईजी !" न चाहते हुए भी वसुधा को बोलना पड़ा था, "तीन दिन तक धोती न होने के कारण कमरे से बाहर न निकल पायी; तुममें से पूछा किसी ने ? फ़ीस तक तो देनी बन्द कर दी !...और जब-तब खन्ना की बातें करती हो ! मैं उसके स्टूडियो में तीन बार गयी थी। जानती हो उसने क्या कहा तीनों बार ?" वसुधा आवेश में काँपने लगी, "कहता था—तुम्हें सारे कपड़े उतारकर फ़ोटू खिचवानी पड़ेंगी...!"

वसुधा रो पड़ी ज़ोर से।

अपनी पराजय स्वीकार करना माँ ने कभी सीखा न था। अतः चुप होने की अपेक्षा और भी उत्तेजित स्वर में फट पड़ीं, "खन्ना ने ये कहा था, खन्ना ने ओ कहा था," आँखें मटकाकर, हाथ नचाकर बोलीं, "खन्ना की बच्ची, और यह जो सड़ी हुई धोती लायी है, यह कहाँ से ? बड़ी सावित्तरी बनती है, ख़समखानी ?"

● ●

इस घटना के बारे में जब वसुधा ने एक दिन देवेन को बताया तो वह बहुत उदास हो गया। कुछ सोचता हुआ बोला, "मेरी नौकरी लग जायेगी वसु, तो तुम्हें फिर कोई कष्ट न होगा। स्पीड अब फ़िफ़्टी तक

पहुँच गयी है। 'कॉल' आने ही वाली होगी।...फ़ादर के फ्रेण्ड हैं चण्डी-गढ़ में। वहां कोई वैकेन्सी निकली तो फिर कोई झंझट नहीं रहेगा। यह शहर ही छोड़ देंगे।...लगता है बुढ़िया का दिमाग़ फिर गया है। बेटी से ऐसी-ऐसी बातें कहती है!"

"माँ का स्वभाव पहले ऐसा न था देवेन...।" वसुधा शून्य में ताकती हुई बोली, "जब से पिताजी को लकवा पड़ा है, पता नहीं उन्हें क्या हो गया है? एक बार फुफ्फड़जी के पास 'रजोरी गार्डेन' गयी थीं। वहाँ से लौटीं तो जानते हो क्या कहा?" वसुधा ने देवेन के चेहरे की ओर देखा, "कहती थीं, कंचन को 'सकूल' में पढ़ाने-पुढ़ाने से कोई फ़ायदा नहीं। सुना है—कैबरा नाच में बहुत पैसे मिलते हैं आजकल। वही हम भी सिखला देते!

"मैंने होंठों पर अँगुली रख ली। उन्हें समझाया कि कैबरे में क्या होता है। हज़ारों मरदों के बीच रात को बित्ते-भर के कपड़े पहनकर नाचना होता है, गन्दे ढँग से! कहते हैं कहीं-कहीं तो वह भी उतार फेंकने पड़ते हैं...। ऐसी आमदनी से हमें क्या करना! भगवान दिन में एक वक़्त दो रोटी दे दे, बस वही बहुत है...।

"उनकी बुद्धि में यह बात दिनों तक नहीं आयी। वे उल्टा मुझे ही कोसती रहतीं कि मैं अपनी छोटी बहन की तरक़्क़ी से जलती हूँ। उसका सुख से रहना नहीं देख सकती...।"

कहते-कहते चुप हो गयी वसुधा।

इसके बाद दस दिन भी बीते न थे कि वसुधा के मामा अपनी बेटी की शादी में उसे भटिण्डा बुला ले गये। वहाँ से लौटी तो मालूम हुआ कि देवेन को चण्डीगढ़ में नौकरी मिल गयी है। उसे वहाँ पहुँचे एक हफ़्ते से ऊपर हो गया।

वसुधा खोयी-खोयी-सी रहने लगी। न घर में मन लगता, न बाहर। एक दिन बाहर से लौटी तो देखा, 'कमर्शियल एकेडमी' वाला शर्मा बैठा है। माँ से घुल-मिलकर बातें कर रहा है।

"लो, इसका ज़िक्र कर रहे थे और यह आ भी पहुँची!" शर्मा ने उमकते हुए कहा।

पास रखे गेहूँ के कनस्तर पर वसुधा बैठ गयी।

"इनकी एकेडमी में एक जगह है, तुम चली क्यों नहीं जातीं बस्सो !" माँ ने कहा।

"क्या काम करना होगा ?" बड़े भोले भाव से उसने पूछा।

"काम क्या करना होगा ?" अपने पान से रंगे भौंड़े-भद्दे और गन्दे लाल-लाल दाँतों को निपोरता हुआ शर्मा बोला, "मुझे एक हैल्पर की ज़रूरत है। बस, तुम आ जाओ। ख़ुद टाइप सीखो, औरों को भी सिखलाओ !" और हो-हो करता हँस पड़ा वह।

आँखें जरूरत से ज़्यादा मींचते हुए फिर माँ की ओर देखता हुआ बोला, "मैं तो इस पर सारी 'एकेडमी' ही छोड़कर, कोई और साइड-बिज़नेस करने तक को त्यार हूँ...।"

वसुधा सिर झुकाये चुप सुनती रही। उसने न 'हाँ' कहा, न 'ना'। अन्त में वह जाने लगा तो बोली, "मैं सोचकर जवाब दूँगी !"

शर्मा के जाते ही माँ बिगड़ पड़ी, "सोच के क्या जवाब दोगी, रानी जी ?" और बस स्यापा मचाने लगी।

• •

लगभग एक महीने बाद देवेन का पत्र आया था—बहुत लम्बा। शादी की बात दुहरायी थी और जल्दी ही दिल्ली आने के सम्बन्ध में लिखा था।

वसुधा अभी उत्तर भी न दे पायी थी कि देवेन पहुँच भी गया था। सारे दिन वसुधा उसके घर रही। रोती रही और अन्त में बोली, "मैं विवाह कर लूँ तो कंची की पढ़ाई का क्या होगा ? पिता बीमार हैं। पैसे के अभाव में उनका इलाज नहीं हो पा रहा। मीचे छोटा है। उसके भविष्य का क्या बनेगा ? माँ अपनी आदतों से बाज़ नहीं आतीं। इस उम्र में भी उन्हें घूमने-फिरने का शौक़ है ! ऐसी स्थिति में तुम्हीं बताओ... इन सबका क्या होगा ?" वसुधा की आँखें डबडबा आयीं, "कौन सुखी नहीं रहना चाहता देवेन ! लेकिन मेरी क़िस्मत में यह सब कहाँ ! मुझे पता है तुमसे अच्छा जीवन-साथी मुझे उम्र-भर नहीं मिलेगा, पर मैं क्या करूँ ? क्या करूँ देवेन, कहीं कोई रास्ता नहीं सूझता...।"
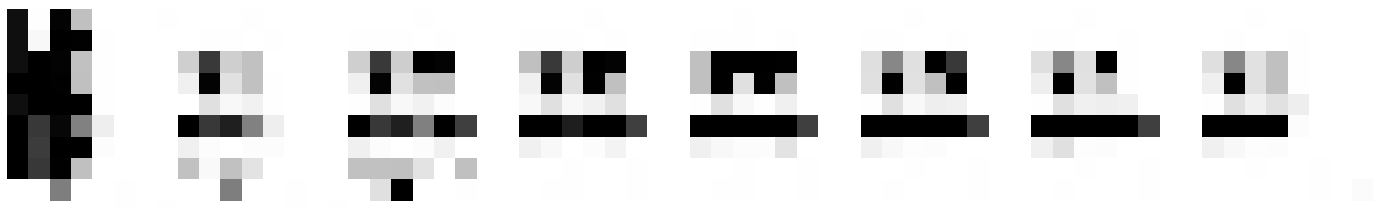
देवेन दो-तीन दिन बाद चला गया चण्डीगढ़। एक दिन उसका विवाह हो गया। फिर बच्चे हो गये। और वसुधा ने नौकरियों का पल्ला पकड़ा। पर, नौकरियाँ भी कैसी !

● ●

यह सब सोचते-सोचते वसुधा की आँखें आज अनायास भर आयीं। आँचल से मुँह पोंछकर जल्दी-जल्दी नाश्ता बनाने लगी। टोस्ट अधिक सिकने के कारण जल-से गये थे। चाय का पानी पता नहीं, कब तक खौलता रहा था, इसलिए बिलकुल बदरंग हो आया था।

नाश्ता लेकर कमरे में पहुँची तो देखा—देवेन सो रहा है !

रखी-रखी चाय ठण्डी हो जायेगी। नाश्ता भी खाने लायक़ नहीं रहेगा। यह सोचकर वसुधा ने जगा दिया, "चाय ले आयी हूँ। पी लो, फिर आराम से सो जाना...।"

आँखें मलता हुआ देवेन उठ बैठा, "बड़ी जल्दी तैयार कर दिया !"

"जल्दी कहाँ, घण्टे-भर में तो अँगीठी सुलगी !"

देवेन हँस पड़ा, "तो तुम अब घड़ी देखकर खाना भी बनाया करती हो ?"

"अरे, तुम्हारी आँखें लाल क्यों हैं ?" उसकी आकृति की ओर घूरकर देखते हुए देवेन ने पूछा और फिर स्वयं ही उत्तर भी देता हुआ बुदबुदाया, "कह दो धुआँ लग गया था !"

वसुधा चुप रही।

"मैं कहता था न, तुम्हारी ज़िन्दगी यों ही बीतेगी...!"

बैठा न गया वसुधा से। दूध उबलने का बहाना बनाकर भीतर चली गयी।

थोड़ी देर बाद फिर कमरे में आयी तो सिर से पाँवों तक बदली-बदली थी। सफ़ेद साड़ी, सफ़ेद ब्लाउज, कन्धों तक झूलती कजरारी-काली लटें...गीली ! मोतियों की तरह पानी की बूँदें चू रही थीं।

"शर्मा के खोखे में कितने दिन काम किया ?" देवेन ने चाय का घूँट भरते हुए पूछा।

"यही कोई दो-तीन महीने...।"

"फिर छोड़ क्यों दिया ?"

"मन नहीं लगा, उस नरक में। मैंने बतलाया न कि वह अच्छा आदमी नहीं था। अभी सर्विस में गये तीन ही दिन बीते थे कि हज़रत एक दिन मेरे पीछे घर आये और डेढ़-दो सौ रुपये राशन-पानी में ख़र्च कर गये। माँ ख़ुश थीं। सबसे उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधे जा रही थीं। तनख़्वाह घर आकर 'एडवान्स' में दे गया। अब तो कहता है सारी 'एकेडमी' बस्सो पर छोड़कर कोई साइड-बिज़नेस करूँगा...।

"पाँचवें दिन मैंने वहां जाने से इनकार कर दिया तो माँ आगबबूला हो उठीं। मुझे लात-घूसों से मारने लगीं। कंचन ने भी उसीका साथ दिया। दरवाज़ा बन्द कर दोनों तब तक मुझे मारती-पीटती रहीं जब तक कि मैं बेहोश नहीं हो गयी !...पिताजी पड़े-पड़े देखते रहे। मीचे को पहले ही उन्होंने स्कूल भेज दिया था...।"

देवेन के हाथ का टोस्ट हाथ में ही रह गया।

"शर्मा क्या वाक़ई अच्छा आदमी नहीं था ?"

"हाँ, एक्स्प्लॉएट करना चाहता था मक्कार...। टाइपिंग का स्कूल तो उसने यों ही खोल रखा था। वास्तव में उसका धन्धा कुछ और था। ख़ैर, छोड़ो।...तुम चाय क्यों नहीं पी रहे ? ठण्डी हो गयी क्या ? और बना देती हूँ..."

"नो, नो !" देवेन ने कहा, "चाय अभी काफ़ी गरम है। मुझे ठण्डी करके पीने की आदत है।...तुम भी तो लो न कुछ ?"

टोस्टवाली प्लेट उसने आगे को बढ़ायी। एक छोटा-सा जला हुआ टुकड़ा उठाकर वसुधा कुतरने लगी। आँखें फ़र्श पर चिपकी थीं, चेहरा उदास-उदास।

"नयी सर्विस कैसी है ?" देवेन ने सन्नाटा भंग करते हुए पूछा।

"अच्छी है। सो-सो !"

"कितना मिल जाता है इन ऑल ?"

"फ़ोर हन्ड्रेड से स्टार्ट किया था। इस समय फ़ाइव फ़िफ़्टी हैं। दो महीने का बोनस मिल जाता है। ओवर टाइम अलग।"

"बॉस कैसा है ?"

"अच्छा है। पढ़ा-लिखा है। स्टेट्स में था पहले। अब यहाँ डायरेक्टर होकर आया है।"

"टूर पर भी जाना पड़ता है उसके साथ ?"

"कभी-कभी !"

दोनों देर तक चुप रहे।

देवेन चाय पीकर फिर आराम से लेट गया। रंग-बिरंगी दीवारों की ओर देखता रहा, "तुम्हारे घर का तो अब नक़्शा ही बदल गया है ! लम्बी चौड़ी खिड़कियाँ, रंगीन ट्यूब लाईट्स, चमचमाता सोफ़ा...!"

"मदर को इसी से लगाव है देवेन ! इसके लिए भले ही कुछ भी करना पड़े...!" खोयी-खोयी-सी वसुधा बोली, "पता नहीं, क्या हो गया है इन सबको ! इनका पेट ही नहीं भरता। मेरे टूर पर जाने पर इन लोगों को ख़ुशी होती है कि इस महीने पे अधिक मिलेगी। बॉस की लम्बी गाड़ी मुझे लेने आती है तो इन्हें गर्व होता है। यह कॉलनी ही ऐसी है...।"

देवेन को सहसा कुछ याद आया। कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखता हुआ बोला, "आज ऑफ़िस नहीं जाना है ?"

"जाना तो है...।"असमंजस से वसुधा ने उत्तर दिया।

"न जाओ आज तो कोई हर्ज ?" देवेन उसके चेहरे की ओर देखता रहा, प्रतिक्रिया जानने के लिए।

"हर्ज तो है !" वसुधा यों ही मुसकराती हुई बोली, "न जाने पर बॉस ने निकाल दिया तो फिर क्या होगा ? न बाहर जगह, न घर में ठौर ! तुम्हारे यहाँ भूल से आ पड़ी तो तुम्हारी श्रीमती जी खरी-खोटी सुनायेंगी ! चाय के लिए भी नहीं पूछेंगी !"

"हमने तो तुमसे पहले ही कहा था। तुम ही न मानीं तो हमारा क्या दोष ?"

वसुधा किसी काम से बाहर गयी तो झट हाथ-मुँह धोकर देवेन तैयार होने लगा। ड्रैसिंग टेबिल पर सुगन्धित तेल रखा था। रंगीन धार थोड़ी-सी हथेली पर डालकर वह बाल बनाने लगा।

"बड़ा सेण्टेड ऑएल रखा है वसुधा ?"

"मेरा नहीं, कंचन का होगा। उसके तो अब पाँव ही धरती पर नहीं देवेन। महल्ले में कोई ऐसा लड़का नहीं जिसके साथ उसके क़िस्से न जुड़े हों। हमें तो इधर-उधर घूमते भी लाज आती है।" देवेन के कुछ और पास आकर फुसफुसाती हुई बोली, "कहना नहीं किसी से ! सुना है परसों खन्ना के स्टूडियो में गयी थी। न्यूड खिंचवाकर तीन सौ रुपये लायी है।...पर्स में मैंने ख़ुद देखे थे—तीन नोट !...मैं चाहती थी, कुछ पढ़-लिख ले तो इस झल्ली की कहीं अच्छी जगह मैरेज कर दूं। मेरी ज़िन्दगी तो इनके लिए बिगड़ी ही, पर उसके दिमाग़ अब सातवें आसमान पर हैं। मैं कभी कुछ कहूँ तो मारने को झपटती है।...परसों पिताजी के ऊपर बिना बात ठण्डा पानी उड़ेल दिया था। रात-भर बेचारे काँपते रहे !"

सड़क पर आकर दोनों स्कूटर में बैठे तो वसुधा ने पूछा, "आये कैसे थे देवेन ? फ़ादर का तो सुना यहाँ से लखनऊ के लिए ट्रैन्स्फ़र हो गया था पिछले साल..."

"कुछ पर्सनल काम से आया हूँ। एक पार्टनर मिल गया है पैसेवाला। रेडीमेट गारमेण्ट के एक्सपोर्ट का बिजनेस शुरू करने का इरादा है। यहाँ से अभी लाईसेन्स नहीं मिला। कहीं थोड़ी 'एप्रोच' हो जाती तो...!"

"बस, इत्ती-सी बात ! अपने बॉस से कहकर करवा दूँगी। मिनिस्ट्री में उनकी बड़ी पहुँच है। अच्छा, बोलो, कितना पर्सेण्टेज मिलेगा मुझे ?"

देवेन ने उसे ज़ोर से भींच लिया और शरारत से उसकी ओर देखने लगा, "हण्ड्रेड वन पर्सेण्ट !"
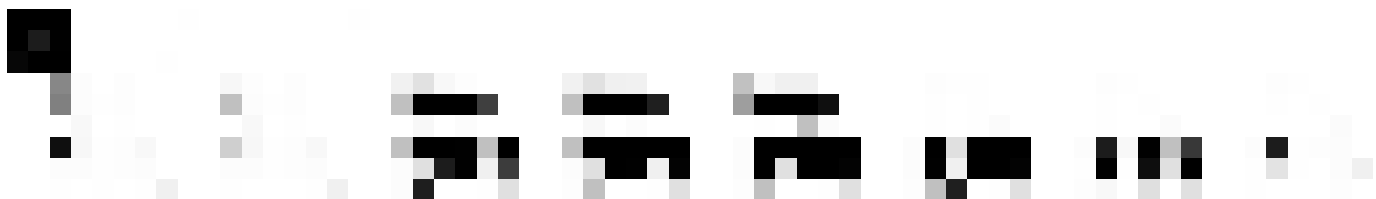
दो

ऊपर सीढ़ियों के पास केवल एक चारपाई की जगह है। बस, उतने में ही सीमित है एक संसार ! पाँवों के पास सुराही रखी रहती है— उलटे गिलास से ढँकी। जब प्यास लगी, पानी पी लिया। दिन-भर, रात-भर खाँसना और उलटे तिलचट्टे की तरह पड़े रहना। खाना किसीने दे दिया तो ठीक, नहीं तो राम का नाम लेकर लेटे रहना।

वसुधा जब भी बाहर से घर लौटती है, सबसे पहले ऊपर जाकर एक बार देख आती है। कम्बल नीचे गिरा है, तो उसे सँभालकर ऊपर कर देती है। सुराही में पानी भर जाती है। बीड़ी का बण्डल सिरहाने रख आती है। पहले तो स्वयं अपने ही हाथ तंग रहते थे, लेकिन अब सिरहाने पर कभी खुले पैसे, कभी टूटे हुए नोट भी रख जाती है। ताकि ज़रूरत पड़ने पर नीचे से कुछ मँगवा लें।

भोजन की थाली रखने और जूठी थाली उठाने के अतिरिक्त माँ कभी भूल से भी इधर झाँकती नहीं।

वसुधा के कमरे में आज भी वह फ़ोटो है जिसे माँ ने विवाह के पूर्व खिंचवाया था। पिता का चेहरा बड़ा ही आकर्षक लगता था। घने घुंघराले बाल, लम्बी नासिका, बड़ी-बड़ी आँखें...!

माँ का पहला विवाह लाहौर में हुआ था। विभाजन के बाद सारा परिवार लुधियाना आ गया था। जो कुछ पैसा-पाई था, सब पाकिस्तान में रह गया था। जब वे लोग अमृतसर पहुँचे तो, सुना है, उनके पास तन पर टँगे कपड़ों के अलावा कुछ भी शेष न था। वसुधा तब

छोटी थी और कंचन शायद पैदा भी नहीं हुई थी।

आज भी माँ कभी-कभी उन दिनों के क़िस्से सुनाया करती हैं।

तब कई दिनों तक शरणार्थी कैम्पों में भटकते रहे। कई-कई दिनों तक तो खाना ही नसीब नहीं हो पाता था ! लुधियाने में दूर के कोई रिश्तेदार थे। कुछ दिन उनके मेहमान बनकर रहे। बाद में पिता ने रेड़ी लगाकर बाज़ार में सामान बेचना शुरू किया था। पिता नेक थे। लुधियाने के आर्यसमाजियों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धीरे-धीरे कारबार फैलने लगा। स्टेशनवाले बाज़ार के नुक्कड़ पर उन्होंने दुकान किराये पर ले ली थी। सुई-धागे से लेकर सिलाई की मशीनें और पंखों तक की बिक्री का काम किया करते थे।

वसुधा आर्य कन्या पाठशाला में पढ़ती थी तब। कंचन ने भी उसके साथ-साथ तख़्ती-स्लेटी लेकर पाठशाला तक जाना आरम्भ कर दिया था।

पिता दिलेर थे। दबंग थे। लेकिन माँ से दबते थे। माँ की कोई बात टालना उनके लिए सम्भव न था। इस सुविधा का माँ ने भरपूर लाभ उठाया था। महिला ही नहीं, उनके पुरुष-मित्र भी बेरोक-टोक घर आया करते थे। पिता सुबह निकल जाते दुकान के लिए और आधी रात को लौटते घर। घर में क्या होता है, क्या नहीं...उन्हें कुछ ख़बर न होती। लाहौर में जैसा रुतबा था, वैसा ही वह यहाँ भी चाहते थे। खद्दर के कपड़े पहनकर उन्होंने जन-सभाओं में भाषण देना आरम्भ कर दिया था।

यह सब चल ही रहा था कि एक दिन स्टेशन रोड पर भयंकर अग्नि-काण्ड हुआ। सारी दुकानें जलकर राख हो गयीं और उनके साथ ही झुलसकर राख हो गये पिता भी !

सारी देह कोयले की तरह काली हो गयी थी। काली पलकें खोलते तो लाल-लाल आँखों को देखकर भय-सा लगता।

लगभग सप्ताह-भर अस्पताल में रहकर एक दिन वह चल बसे थे। कितने बड़े अरमान थे उनके ! कितने बड़े सपने देखे थे उन्होंने ! लेकिन आग की लपटों में वे सब उनके साथ ही समा गये थे—सदा-सदा के लिए।

पूरा परिवार फिर शरणार्थी बन गया एक बार !

अभी महीना भी बीता न था कि साहुकारों ने मकान हथिया लिया। तब किराये के छोटे-से मकान में आ गये थे सब लोग।

माँ ने सिलाई-कढ़ाई का काम शुरू कर दिया था। भटिण्डा से कभी-कभी मामा आते, वह कुछ सहायता कर जाते।

जो-जो लोग पहले घर में आया करते थे, उन्होंने यहाँ भी आना-जाना शुरू कर दिया था, हमदर्दी जतलाने। कोई बच्चों के लिए फ्रॉक लाता, कोई घर से जाते समय हाथ में एक-एक रुपया रख जाता। कोई केवल बच्चों को प्यार से पुचकारता चला जाता।

वसुधा अब कुछ बड़ी हो गयी थी। सब समझने लगी थी। कौन किस निगाह से, कब आता है, इसका उसे भान था।

दादी कुढ़ती रहती, "साड्डे बलजीत नू मरे तिन महीने वी नईं होए, वोहटी ने अपणा रंग दिखाणा शुरू कर दित्ता। मुँए महल्लेवाले की कैंणगे परबीन, रब्ब तों कुछ्छ ते डर!"

माँ ने ज़िन्दगी में कभी किसी की परवा नहीं की। और इस बार भी अपना हमेशा का रूप दिखलाया।

दो बच्चों की माँ बनने के बाद भी उसमें ग़ज़ब का रूप था, ग़ज़ब का रंग था। संगमरमर-सी तराशी हुई देह! तीखे नयन-नक़्श। गोरा-गुलाबी रंग—लोग देखते तो देखते ही रह जाते!

माँ जब बन-ठनकर बाजार में निकलती तो लोग चलते-चलते खड़े हो जाते। माँ का असाधारण रूप-लावण्य ही सम्भवतः वह कारण था, जिससे पिता जिन्दगी-भर दबते रहे।

एक दिन माँ रसोईघर में चाय बना रही थी। पड़ोस के ठेकेदार रणधीर चाचा अन्दर चारपाई पर बैठे थे। उन्होंने सामने खड़ी बस्सो—वसुधा को जबरदस्ती खींचकर अपनी गोद में बिठला लिया और फिर उसे भींचकर चूमने लगे तो माँ बिगड़ पड़ी।

चाय की केतली हाथ से छूटकर नीचे गिर गयी।

'तैनूँ शर्म नई आंदी...।'

रणधीर चाचा पहले सकपकाये-खिसियाये, फिर कुछ रुककर व्यंग्य-बाण छोड़ते हुए बोले, "शरम तो तुम्हें आनी चाहिए थी परबीन! अपना

चरित्तर देखो ! फिर देना दूसरों को दोष...।"

इतना कहकर वह चले गये।

माँ सुन्न रह गयीं !

उसी समय उसने खिड़कियाँ बन्द कर दीं। दरवाज़े बन्द कर दिये...।

वह दिन था कि यह दिन !

अब घर में कोई भी आता न था। जिसे काम होता वह खिड़की से ही बातें करके चला जाता।

इसके कुछ ही दिनों बाद माँ ने हमेशा के लिए लुधियाना छोड़ दिया। दोनों बच्चियों को लेकर दिल्ली आ गयीं और यहाँ दूसरा विवाह रचा लिया।

● ●

पर यह दूसरा विवाह भी रास न आ पाया।

दूसरे पिता इतने भोले थे कि दीन-दुनिया की इन्हें कुछ भी ख़बर न थी।

माँ को एक सहारा चाहिए था, संसार की निगाहों से बचने के लिए, लेकिन यह सहारा भी मृगतृष्णा-सा लग रहा था।

यहाँ आकर पिछली सारी ज़िन्दगी को उसने भुला दिया था। घर तक ही सीमित संसार था अब उसका और पति था—परमेश्वर !

मन को शान्त रखने के लिए माँ ने रोज़ सुबह-शाम मन्दिर जाना शुरू कर दिया था। घर में शाम को नित्य आरती होती। रामायण के साथ-साथ गुरुग्रन्थ साहब का भी पारायण होता।

पुराने जानने-पहचाननेवाले लोग देखते तो पहचान न पाते। दाने-सयाने कहते—परवीन कौर का नया जन्म हुआ है। पलकें झुकाकर सड़क पर चलती है। किसी पराये मरद से बातें करना तो दूर, नज़रें तक नहीं मिलाती। दिन-रात स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ में लगी रहती है। बच्चियों को भी अच्छी सीख दे रही है।

बच्चे भी अब पहले की अपेक्षा ख़ुश थे। बस्सो ने कमेटी के स्कूल में दाख़िला ले लिया। कंचो भी पढ़ रही थी। इस साल छठी का प्राइवेट
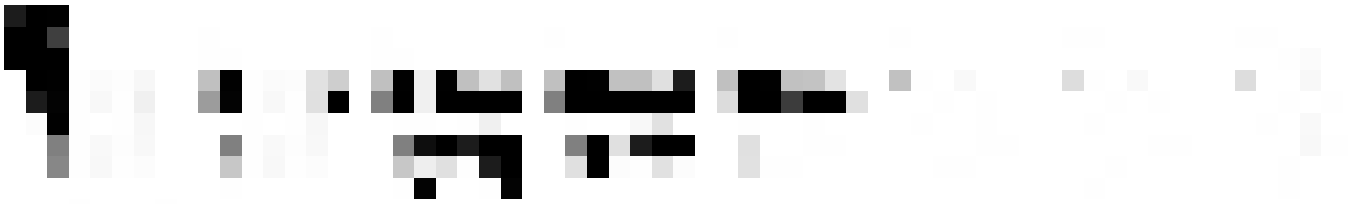
इम्तहान दिया था।

नये पिता, लाला बिशनदास की हैसियत बहुत अच्छी न थी, पर खाने-पीने की कमी हो—ऐसा भी न था। रेलवे में चीफ़-क्लर्क थे। आमदनी अच्छी थी। लाजपतनगर में अपना मकान था, इसलिए रेलवे-क्वार्टर के लिए कभी एप्लाई ही नहीं किया था। पाकिस्तान में रह गयी सम्पत्ति के मुआवज़े में जो जगह मिली थी उसीमें एक-दो कमरे और डलवा लिये थे उन्होंने। पहले कुछ कमरे किराये पर चढ़े थे, लेकिन इस विवाह के बाद उन्हें भी ख़ाली करवा दिया था ताकि बच्चों को असुविधा न हो।

नये पिता का यह पहला विवाह हो, ऐसी बात न थी। कहते हैं बहुत पहले अपने ही ऑफ़िस के किसी क्लर्क की एक रिश्तेदार से उन्होंने विवाह किया था, लेकिन महीने-भर बाद ही वह कपड़े-लत्ते, ज़र-ज़ेवर समेटकर चम्पत हो गयी थी और आज तक उसका अता-पता न मिला था।

बिशनदास को उसके क़िस्से अब तक याद हैं। बड़ी अनोखी आवाज़ में वह 'अरदास' गाया करती थी!

● ●

"शिमला में रेलवे का गैस्ट-हाउस है। कुछ दिन हम भी वहाँ हो आयें परवीन! विवाह के बाद सब पहाड़ों पर जाते हैं।" एक दिन नये पिता ने कहा तो नयी दुलहिन की तरह पहले तो माँ शरमायी। फिर बोली, "ओत्थे जा के बी की होएगा लालाजी?"

इस प्रश्न का कोई उत्तर न था, लालाजी के पास।

लेकिन इसका उत्तर जिस दिन मिला, उस दिन सचमुच भूचाल आये बिना न रहा।

बिशनदास ने एक दिन शाम को घर आकर बतलाया कि हमारा कोई नया अफ़सर आया है—ए. नाथ। उसने रात को खाने पर बुलाया है। इसलिए जल्दी 'त्यार' होकर चलना है!

"बच्चों को भी साथ ले लें?"

"क्या करेंगे, उतनी दूर जाकर!"

अन्त में सज-धजकर वह तैयार हुई। अच्छे-अच्छे कपड़े पहने। गहने

पहने। माँग में ढेर सारा सिन्दूर भरा। और फिर अन्त में शीशे में अपना चेहरा देखकर वह स्वयं शरमा गयी।

दो घण्टे की भाग-दौड़ के बाद ऐस्टेट एण्ट्री रोड पहुँचे तो देखा—मेज़बान सचमुच भोजन बनाये तैयार बैठा है। खाना ठण्डा हो रहा है।

बिशनदास बग़ल में भिचा-भिचा बैठा अफ़सर के साथ रम पीता रहा और परवीन चुपचाप पूरियाँ तोड़ती रही।

अभी भोजन समाप्त न हुआ था कि बिशनदास को सहसा कोई आवश्यक काम याद आ पड़ा। "अभी आता हूँ सर," कहकर जो वह बाहर निकला तो फिर सारी रात लौटकर वापस न आया।

अफ़सर 'छड़ा' था—अविवाहित, अकेला। नौकर-चाकर भी भोजन करके अपने-अपने घर को चलते बने। कौन कब तक इन्तज़ार करता!

सुबह धुँधलके में अफ़सर अपनी गाड़ी से उसे स्वयं डबल-स्टोरी क्वार्टर्स तक चुपके से छोड़ गया था।

परवीन का पारा आसमान पर चढ़ा था। भवें तनी थीं। घर में पाँव धरते ही वह बरस पड़ी। बिशनदास की गरदन पकड़ती हुई, फुफकारकर बोली, "तुम मर्द नहीं हो, यह तो पहली ही रात मुझे पता चल गया था, लेकिन इतने नामर्द हो, नीच हो, इसकी कभी कल्पना भी न की थी...! बिशनदास, तुमने मुझे क्या समझा—छिनाल! मैं अगर अपने पर उतर आयी तो तुम्हारा जीना हराम कर दूँगी!"

बिशनदास थर-थर काँपने लगा।

मूर्तियों की जगह उसने तोड़ दी। भगवान की तस्वीरें फाड़ दीं। मनका के दाने-दाने एक-एक करके बाहर छितरा दिये।

वह दिन था, कि यह दिन!...

लोग कहते—परवीन कौर का भेजा फिर गया है। जब देखो, घर पर महफ़िल जमी रहती है। नित नये-नये लोग आते रहते हैं। 'कीर्तन' चलता रहता है।

हालात धीरे-धीरे यहाँ तक पहुँच गये कि जाड़ों की ठण्डी, ठिठुरती रात, बाहर सीढ़ियों पर बैठा-बैठा गुज़ार देता बिशनदास। भीतर उसके बिस्तरे पर कोई और सोया होता!
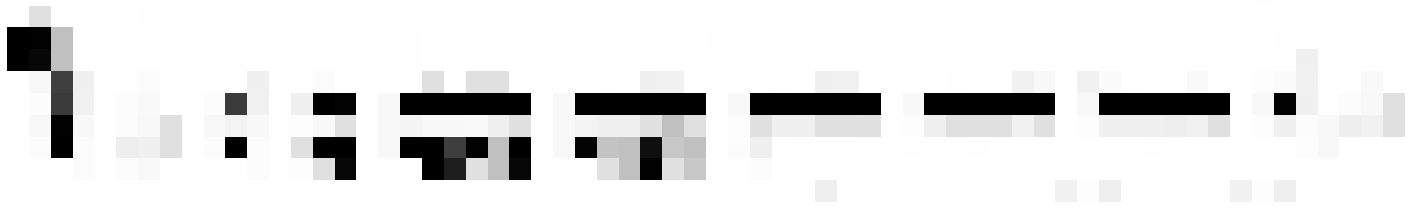
इसी बीच बिशनदास का एक बच्चा हुआ, जो बिलकुल उससे मिलता-जुलता न था। लोग कहते किसी और का है।

इसी ग़म में घुलता-घुलता बिशनदास अधमरा हो गया। एक दिन लकवे का शिकार बनकर बिस्तर पर ऐसा गिरा कि फिर उठ न पाया।

परवीन अब उधर देखती तक नहीं। कंचन हिक़ारत-भरी निगाहों से देखकर चली जाती है। मीचे अपरिचित की तरह कभी आता भी है तो बिना रुके चलता चला जाता है।

सारी मोह-ममता का दायित्व केवल वसुधा पर सिमिटकर आ टिका।

किसी आदमी की नियति ऐसी दयनीय हो सकती है—सोचकर वह काँप-काँप उठती।

फ़रवरी से सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद पर प्रमोशन होना था। अफ़सर ख़ुश था। बिशनदास का सेलेक्शन हो चुका था। लेकिन अब !

एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिन्ह शून्य में खिंच आया था !

तीन

तीन-चार साल में सब कुछ बदल गया था। कंचन बी. ए. में इस बार भी असफल रही तो माँ ने उसे किसी नौकरी में लगा देने की बात कही, पर वसुधा न मानी। बोली, "क्यों इसकी ज़िन्दगी ख़राब करने पर तुली हो ! नौकरी करके क्या मिलेगा ! सब जगह एक-सा हिसाब है। बी. ए. के बाद टीचिंग का डिप्लोमा लेकर कहीं अध्यापिका हो जायेगी। अच्छा-सा लड़का ढूँढ़कर विवाह कर देंगे, सुख की ज़िन्दगी जीयेगी...!"

माँ की निगाहों में पैसा ही अब सब कुछ था। इसलिए बड़ी मुश्किल से मानी।

मीचे का स्कूल ठीक चल रहा था।

पिता के रहने-खाने की भी इधर कुछ अच्छी व्यवस्था हो गयी थी। वसुधा हर महीने कुछ पैसे बचाकर टॉनिक ले आती। घर लौटते समय अलग से कुछ फल लाना भी कभी न भूलती।

पिता के प्रॉविडेण्ट फ़ण्ड के सारे रुपये पहले ही समाप्त हो चुके थे। अब गृहस्थी की पूरी गाड़ी वसुधा की आमदनी के बल पर चल रही थी।

इतना सब करने पर भी माँ सन्तुष्ट न थी। दिन-रात ताने देती रहती..."अमुक ने इत्ती तरक्की कर ली है ! लड़की ने अपने बल-बूते पर बिल्डिंग खड़ी कर दी है। कारों में ठाठ से घूमती है। अशोक होटल से नीचे बात नहीं करती...!"

इस सबके बावजूद धीरे-धीरे उनके स्वभाव में कुछ-कुछ परिवर्तन

आने लगा था। चेहरे पर भी अब इतना निखार न रहा था। ढलती उम्र की गहरी रेखाएँ दूर से ही झलकने लगी थीं।

एक दिन बिना बात माँ पिता को झिड़क रही थी तो वसुधा बोले बिना न रह सकी, "हर समय इस तरह क्यों हिक़ारत की नज़र से देखती हो चाईजी ? तुमसे सीखकर ऐसा ही बच्चे भी करने लगते हैं। परसों पड़ोसी बिन्दु कह रहा था, इस बूढ़े को ज़हर क्यों नहीं दे देते ! जैसे भी हैं आख़िर हैं तो हमारे पिता की ठौर पर। इन्हीं के सहारे अब भी पड़े हैं। फिर बुढ़ापा और रोग किसे नहीं आता ! कल तुम भी बुढ़िया बनोगी। देखूँगी कौन देता है तुम्हारा साथ ! भगवान से कभी कुछ तो डरो !"

माँ ने कोई उत्तर न दिया।

पहले का जैसा होता तो अब तक तमाचा जड़ देती। लेकिन न अब इतनी हिम्मत थी, न सामर्थ्य ही।

● ●

उसी सारी रात घर न लौटी कंचन।

माँ बार-बार जगती, बार-बार खिड़की से बाहर झाँकती। रात को मीचे को उसकी एक-दो सहेलियों के घर भेजा, लेकिन पता कुछ न चल पाया।

मालूम हुआ कि कॉलेज वह पहुँची ही नहीं !

सुबह कोई बच्चा एक चिट्ठी दे गया जिसमें कंचन ने लिखा था—

"बर्फ़ देखने सहेलियों के साथ शिमला जा रही हूँ। दो-तीन दिन में लौटूँगी !"

इस आवारा लड़की का क्या होगा ? वसुधा को सूझता न था।

पहले भी कई बार ऐसा ही कर चुकी है। जब जी आया, जहाँ जी आया, चल दी ! न किसी से पूछने का सवाल, न किसी को बतलाने की जरूरत !

पिछली बार अपनी किसी सहेली के साथ रात को मोदीनगर जाने की बात कह गयी थी, लेकिन बाद में पता चला—उस रात जनपथ के किसी होटल में थी...।
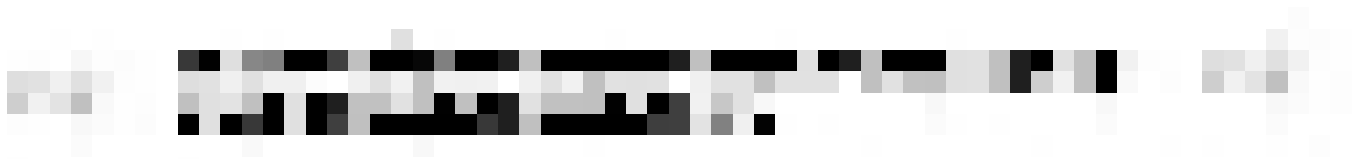
न पैसे ले गयी, न कपड़े।

माँ सारा दिन चीख़ती-चिल्लाती रही। उससे खाना तक नहीं खाया गया।

तीसरे दिन सुबह जब वह घर लौटी तो अजब रूप था, अजब रंग।

चेहरा एकदम उतरा हुआ। आँखें जैसे नशे में लाल हों। कपड़े अस्त-व्यस्त !

चुपके से वसुधा ने उसके पर्स में झाँका—नये नोट यों ही भरे पड़े हैं। सौ-दौ सौ से कम क्या होंगे !

"कंचो, किसके साथ गयी थी शिमला ?" वसुधा ने पूछा।

"अपनी सहेलियों के साथ !"

"ट्रेन से गयी थी ?"

"न्ना !"

"फिर..."

"स्टेशन-वैगन थी किसीकी !"

"कुल कितनी लड़कियाँ थीं ?"

"पाँच-छह !

"लड़के...?"

"लड़के नहीं थे।"

"ख़र्च का क्या किया ? तुम तो एक पैसा लेकर नहीं चली थीं, घर से ! कपड़े भी तुम्हारे पास ऐसे न थे कि बर्फ़ देखने जा सको...!" कुछ सोचती हुई वसुधा बोली।

"सहेलियों के साथ सब हो गया था !"

"अच्छा, तुम्हारे पर्स में जो रुपये भरे पड़े हैं वह भी उन्होंने दिये होंगे ना !" व्यंग्य दृष्टि से वसुधा ने देखा, "हमें ठगने से क्या होगा कंचो! तुम अपनी ही ज़िन्दगी से खिलवाड़ कर रही हो ! कभी पछताओगी...। हमें क्या ?"

देर तक कहा-सुनी होती रही। माँ ने भी कंचो का पक्ष लिया, "बच्ची ही तो है ! इक-अध दिन घुम आयी।"
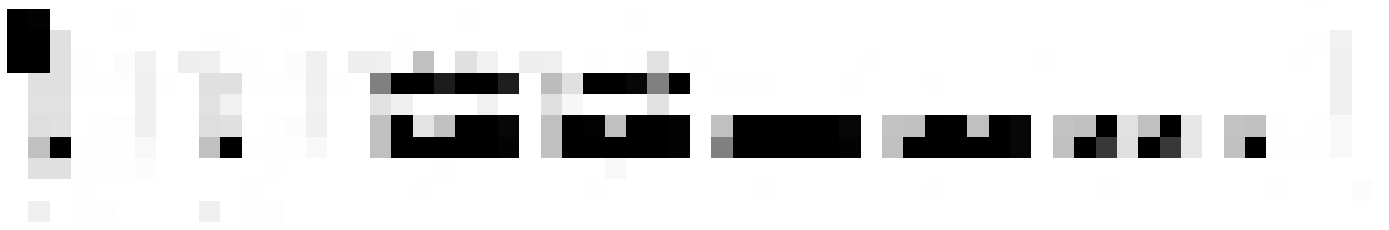
चार

देवेन का एक्सपोर्ट बिजनेस अच्छा चल निकला था। पहले इधर-उधर से तैयार कराये हुए कपड़े बाहर भेजता था, लेकिन अब अपने ही कारीगर रख लिए थे। सिलाई की बीस-पचीस मशीनें दिन-रात चलती रहतीं। इतने से भी पूरा न पड़ता तो अन्य स्थानों से तैयार कपड़े ख़रीद लेता।

चण्डीगढ़ में उसका अपना मकान बन गया था अब। पत्नी अधिक पढ़ी-लिखी न थी, फिर भी कुछ सहायता अवश्य कर देती थी। कनाडा-जर्मनी में उसकी कम्पनी के तैयार किये कपड़ों की अच्छी खपत थी।

इसी सिलसिले में उसके विदेश जाने की बातें चल ही रही थीं कि सहसा अस्वस्थ हो पड़ा। डॉक्टरों ने बाद में तपेदिक़ की जैसी कुछ शिकायत बतलायी थी।

कसोली, चैल और शिमला कुछ दिन रहने के बाद वह कुछ स्वस्थ हुआ तो दिल्ली आया।

"तुम्हें क्या हो गया वसु ?" अचरज से उसने पूछा, "तुम तो पहचानी भी नहीं जाती !"

"क्यों, ऐसा क्या चेन्ज आ गया ?" चहककर वसुधा बोली।

"काफ़ी दुबली-दुबली लगती हो ! बीमार थीं क्या ?" वह उसके चेहरे की ओर निर्निमेष ताकता रहा, "एक बार देखने भी नहीं आयी चण्डीगढ़ कि हम मर गये या जिन्दा हैं !"

वसुधा ने उसके होठों पर हथेली रख दी, "चुप ! चुप ! ऐसा भी कहीं कहते हैं ! मैं काफ़ी परेशान रही इधर देवेन ! फ़ादर की तबीयत ज्यादा

ख़राब रहती है। माँ के लिए उनका होना, न होना जैसे समान है। सोचती थी, कंची की ही ज़िन्दगी बने, उसी में सन्तोष कर लूँगी।...मैं अपनी विवशताओं के कारण विवाह न कर सकी, घर-गृहस्थी न बसा पायी, पर वह सुख से रहे, यही मेरी एकमात्र एम्बीशन थी...! लेकिन अब वह उस रास्ते पर चल चुकी है जिसका कहीं कोई अन्त नहीं...। एक हफ़्ता हो गया आज...वह फिर लापता है !"

वसुधा की आकृति में अजीब-सी व्यथा थी ! असह्य वेदना !

"कहीं ढूँढ़ा-खोजा नहीं ?"

"कोई एक जगह हो तो खोजा जाये ! कॉलेज में कोई एप्लिकेशन नहीं, न किसी अपनी फ्रेण्ड को ही कुछ बतलाकर गयी। सुबह नाश्ता करके कॉलेज के लिए निकली, और आज तक लौटी नहीं !"

कुछ सोचता हुआ देवेन बोला, "न्यूज़पेपर्स में निकलवाया था ?"

"हाँ, सब में दे दिया। रेडियो से भी एनाउन्स करवाया है। आज नाले में एक कटी लाश मिली है, अब तक शिनाख़्त नहीं हो सकी कि किस की है !" वसुधा रुआंसी होकर बोली।

"कहीं फ़िल्म-विल्म का चक्कर तो नहीं ?" तनिक गम्भीरता से देवेन ने प्रश्न किया, "आज-कल ऐसा भी बहुत देखने में आ रहा है !..."

"कह नहीं सकती। अभी कुछ महीने पहले एक लड़की, इसी कॉलनी की किसी के साथ भागकर बम्बई चली गयी थी। उसका भाई दो-तीन महीने वहाँ रहकर खोजता रहा और अन्त में ख़ून से सने कपड़ों की पोटली लेकर लौटा था घर ! दिन दहाड़े लोग ग़ायब हो जाते हैं, फिर वह तो लड़की है !"

"इससे पहले भी इधर-उधर जाती थी...?"

"कुछ दिन पहले शिमला गयी थी, लेकिन जाते समय चिट छोड़ गयी थी। इस तरह बिना बतलाये आज तक कभी कहीं नहीं गयी !"

देर तक दोनों चुप रहे।

"तो कहाँ गयी होगी ? तुम्हारा क्या अनुमान है ?"

"कुछ समझ में नहीं आता ! उसके कॉलेज का एक लड़का उसके साथ कभी-कभी घर आता था, हो सकता है, उसी के साथ कहीं चली गयी
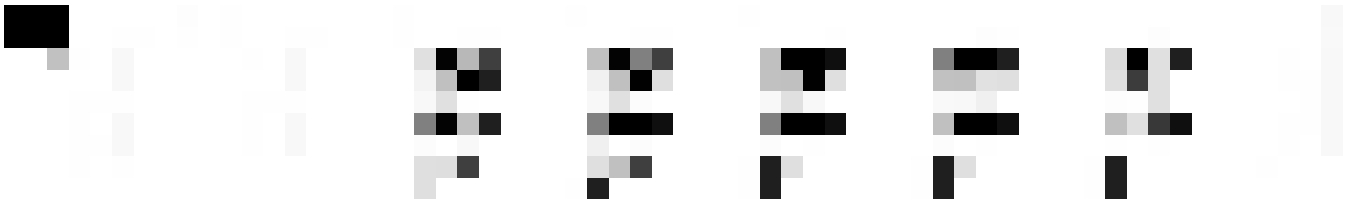
हो...! कुछ नये फ़ोटो अभी कुछ दिन पहले उसने खिचवाये थे। मीचे से कहती थी, इस साड़ी में कैसी लगती हूँ ? यह पोज़ कैसा है ? और फिर शीशे के सामने बैठ जाती थी। कौन जाने कोई बहकाकर बम्बई न ले गया हो...! दिल्ली में तो वह नहीं, इतना निश्चित है !"

"कहीं आत्महत्या...!" शंका से देवेन ने पूछा।

"नहीं, नहीं सुइसाइड क्यों करेगी ? मेरी नॉलेज में तो ऐसी कोई बात नहीं, वैसे भगवान जाने...! कहते हैं इधर सुलफ़ा भी पीने लगी थी। एल. एस. डी. के नशे में हिप्पी लड़कों के साथ कितनों ने रात को देखा था ! बतलाते थे—आधी-आधी बोतल 'नीट' चढ़ा जाती थी...। घर ही कितनी बार, नशे में धुत्त कपड़े उतारकर टहलने लगती थी...। 'खन्ना स्टूडियो' वाले के यहाँ अकसर पड़ी रहती थी...।"

देवेन ने सिगरेट सुलगायी तो वसुधा बिगड़ पड़ी, "सिगरेट पीने को डॉक्टर ने मना किया होगा, फिर...!"

देवेन हँस पड़ा, "डॉक्टरों के कहने पर चलें तो हो गया बेड़ा पार ! यह मत खाओ, वह न पियो ! चार दिन की ज़िन्दगी, उसमें ऐसी-ऐसी रेस्ट्रिक्शन्स !"

होठों पर अटकी सिगरेट वसुधा ने छीन ली और मरोड़ कर दूर फेंक दी।

"कहाँ ठहरे हो ?" सिन्धिया हाउस का क्रॉसिंग पार कर वे धीरे-धीरे जनपथ की ओर बढ़ने लगे।

" 'एयरलाइन्स' में ठहरा हूँ। स्टेशन के नजदीक है न !" देवेन ने उत्तर दिया।

"कब तक रहोगे यहाँ ?"

"कल चला जाऊँगा। विदेश व्यापार मन्त्रालय में कुछ काम है। कल पूरा हो जाना चाहिए...!"

"अब तो अच्छा होगा तुम्हारा बिज़नेस !"

"हाँ, है तो ठीक, लेकिन सँभल नहीं पा रहा। इतनी कैपिटल नहीं। फिर कॅम्पिटीशन बहुत तगड़ा है। इट विल टेक सम टाइम।"

दोनों भीड़ को चीरते हुए चलते रहे चुपचाप !
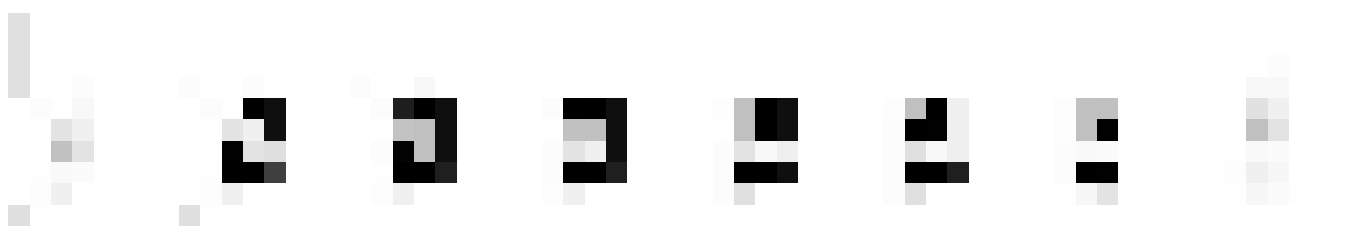
"कुछ थकी-थकी लग रही हो। कॉफ़ी-वॉफ़ी पियोगी ?" स्नेह से उसके कन्धे पर हाथ रखता हुआ देवेन बोला।

"कॉफ़ी से ही काम नहीं चलेगा, कुछ खायेंगे भी। थोड़ी भूख लग आई है इस समय।" वसुधा ने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से उत्तर दिया और हौले से उसका हाथ थामकर चलने लगी।

पास ही रेस्तराँ में वे चले गये। देवेन ने ढेर सारा ऑर्डर दे दिया। वसुधा मना करती रही, लेकिन वह माने तब न !

'हॉट डॉग' का पहला टुकड़ा सॉस में डुबोकर वह खा ही रही थी कि देवेन ने पूछा, "कुछ पतली-सी लग रही हो ! मैं तो सोच रहा था कि कहीं डाइटिंग कर रही होगी !"

"डाइटिंग ही समझो। एक दिल, हज़ार दर्द !" वह चबाती हुई कहती रही।

देवेन हँस पड़ा, "जानती हो आज-कल लड़कियाँ डाइटिंग के साथ-साथ क्या करती हैं ?" उसने वसुधा की ओर देखा, मुँह बनाते हुए।

"क्या ?" वसुधा ने जिज्ञासा से देखा।

देवेन उसी तरह हो-हो हँसता रहा। बोला, "डेटिंग !"

वसुधा झेंप गयी।

"डेटिंग की उम्र अब भागती जा रही है देवेन !" एक गहरी साँस भरते हुए वसुधा ने कहा, "भगवान ने अपनी क़िस्मत में यही लिखा है तो किसी का क्या दोष ?"

"अब भी मान जाओ। कहीं शादी-वादी करके आराम से रहो...।"

"अब कौन करेगा शादी ?"

"कौन नहीं करेगा ? यु आर सो चार्मिंग...!"

वसुधा ने शरमाकर देखा।

"बॉस से कैसे रिलेशन हैं तुम्हारे ?"

"अच्छे हैं।"

देवेन सिप्-सिप् गरम कॉफ़ी पीने लगा। फिर गरदन ऊपर उठाकर उसकी ओर देखता हुआ बोला, "तुमने अपनी ज़िन्दगी में बहुत बड़ी ग़लती की है वसु ! शादी कर लेतीं तब तो आज बहुत से झंझटों से बच जातीं।...
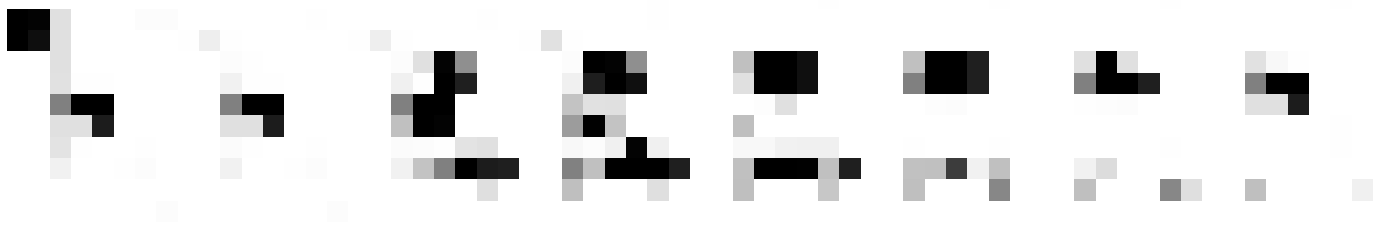
मेरे पास क्या नहीं है ? तुम होती तो शायद मेरी ज़िन्दगी कुछ संवर जाती...!"

"जो चीज़ नहीं हुई और न कभी हो ही सकती है उसके बारे में फिर क्या सोचना ? मुझे कोई मिला नहीं ! घर की देख-रेख मैं न करती तो तुम्हीं बताओ फिर कौन करता ?"

"अपनी देख-रेख का फ़र्ज़ भी क्या तुम्हारा नहीं था ? मैं जानता हूँ तुम्हारी क्या ज़िन्दगी है ! उम्र ढलते ही न यह नौकरी रहेगी, न ये ठाठ-बाट ! प्राइवेट फ़र्मों में क्या-क्या नहीं होता...!" देवेन कुछ कहता-कहता रुक गया।

वसुधा कॉफ़ी पीती रही। पानी की कुछ बूंदें टेबिल पर पड़ी थीं ! उन्हीं से तरह-तरह की शक्लें अँगुली से बनाती रही।

"कंचन की ज़िन्दगी तुम नहीं सुधार सकीं। तुम्हारी माँ को पैसे के अलावा किसी से कोई सरोकार नहीं। पिता कभी भी कूच कर सकते हैं। अन्त में तुम्हारे हाथ क्या आयेगा, बोलो ?"

"मैंने व्यापार की तरह ज़िन्दगी को कभी नहीं लिया देवेन !" वसुधा ने लम्बी साँस लेते हुए कहा, "माँ पर मुझे क्रोध नहीं, दया आती है। ज़िन्दगी-भर कभी भी उन्हें आत्मिक सुख न मिला। कंचो की यह भटकन अभावों के कारण रही, जो अब एक आदत-सी बन गयी है।"

"जिस तरह बुरे काम करने की एक आदत-सी बन जाती है न, जो कभी छूटती नहीं, उसी तरह भले काम करने का भी कुछ लोगों को व्यसन हो जाता है। परिणामों की परवा किये बिना, वे उसी रौ में निरन्तर बहते रहते हैं...!"

देवेन ने घड़ी की ओर देखा और वे दोनों बिल चुकाकर उठ खड़े हुए।

"चलो, आज साथ-साथ खाना खायेंगे, होटल में चलकर !" देवेन ने सीढ़ियों से नीचे उतरकर उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा।

"खाना ही है तो होटल में क्यों ?" वसुधा ने मुड़कर देखा, "घर चलो। आज वहीं रहना।"

"वहाँ जगह कहाँ होगी ?"

"जगह कमरे में नहीं, दिल में तो है !" वसुधा हँस पड़ी, "नीचे

मास्सड़जी के साथ बुलन्दशैर गया है।"

"माँ...?"

"माँ, अंकलजी के साथ तीर्थ-यात्रा पर हरद्वार गयी हैं। चार-छह दिन घूम-घामकर आयेंगी...!"

देवेन हँस पड़ा, "उनका मंगलवार को हनुमान-मंदिर जाने का कार्य-क्रम अब भी चलता है क्या?"

वसुधा बुरी तरह झेंप गयी।

पाँच

पिता सीढ़ियों पर सो चुके थे। उनके लिए दूध की व्यवस्था वसुधा सुबह ऑफ़िस जाते समय पड़ोसिन से कहकर करवा गयी थी। सुराही में अभी आधे से अधिक पानी था। इधर-उधर दूर तक बीड़ी की ठण्ठियाँ बिखरी पड़ी थीं।

डाकिया आज काई पत्र नहीं लाया था।

सूना, अकेला घर जैसे खाने को आ रहा था।

वसुधा धप्प से कुरसी पर बैठ गयी। कपाल पर हाथ रखे सोचती रही कि अब क्या हो!

"क्या हो गया?" देवेन ने पूछा।

"मिस बाली को रिप्लाई-पेड तार भेजा था, बम्बई, वहाँ से भी उत्तर न मिला। मैं सोच रही थी कि कहीं कंचन वहीं न पहुँच गयी हो!"

खाना उन्होंने कनॉटप्लेस में ले लिया था। वसुधा की धोती को लुंगी की तरह बाँधकर देवेन बिस्तर पर बैठ गया।

वसुधा दूध का गिलास लाती हुई फिर कमरे में आयी तो देवेन लेटा छत की ओर देख रहा था।

"सो गये क्या?"

"नहीं तो..."

"मैं सोच रही थी, तुम्हें समय मिलता तो हम दोनों बम्बई तक हो आते। पता नहीं, मुझे क्यों लग रहा है कि कंचन वहीं होगी। मिस बाली हमारे लिए काफ़ी यूज़फ़ुल होंगी!"

इस अप्रत्याशित प्रश्न का क्या उत्तर दे—देवेन असमंजस में डूबा सामने देखता रहा। फिर वसुधा की ओर मुड़कर बोला, "क्या गारण्टी कि वह वहीं हो?"

"सर्टेन तो कुछ नहीं। फिर भी एक बार अपनी ओर से एफ़र्ट कर लेते तो मन का मलाल दूर हो जाता। फिर जैसा उसकी 'फ़ेट' में हो!" वसुधा की आवाज़ लड़खड़ा आयी।

"तुम परेशान क्यों होती हो वसु!" देवेन बोला, "अच्छा, बताओ कब जाना चाहती हो?"

कुछ पल सोचती रही वसुधा, "कल शाम की गाड़ी से जा सकते तो...!"

"गाड़ी से क्यों, प्लेन से चलो।" मुसकराता हुआ देवेन बोला, "ऑफ़िस का काम ख़त्म कर, कल रात बम्बई होंगे—यही तो चाहती हो न! अच्छा अब तो मुसकरा दो! हँसकर देखो न हमारी ओर!"

मुसकान की एक हलकी-सी रेख वसुधा के मुरझाये अधरों पर खिंच आयी।

"ये कर्णफूल कब ख़रीदे भई? बड़े कीमती लगते हैं—हीरों के!" बात की दिशा बदलता हुआ देवेन बोला, "पिछली बार तो न थे न!"

वसुधा हँस पड़ी, "किसी ने बर्थ-डे पर प्रेज़ेण्ट किये हैं...!"

"कौन है वह फ़ॉर्चुनेट?" देवेन ने उसका हाथ थामते हुए कहा, "क्या नाम?"

"अरे, मैंने पिछली बार बतलाया था न तुमको! कुमार है—हमारे ऑफ़िस में। पिछले दो सालों से हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ा है। वैसे बड़ा स्मार्ट है। कई लड़कियों की ज़िन्दगी ख़राब कर चुका है। नौकरी छोड़-छाड़ अब लोन लेकर एक 'लो बजट' फ़िल्म बनाने की योजना बना रहा है..."

"तो हीरोइन तुम्हें रखने को कह रहा होगा न!" शरारत से देवेन ने कहा।

"हाँ, हाँ," खिलखिलाकर हँस पड़ी वसुधा, "बाई गॉड, यही कह रहा था। कहता था जो स्टोरी सेलेक्ट की है, उसकी नायिका के रोल में तुम बिलकुल फ़िट बैठती हो। तुम्हारी तरह उदास-उदास आँखें...ग्लूमी
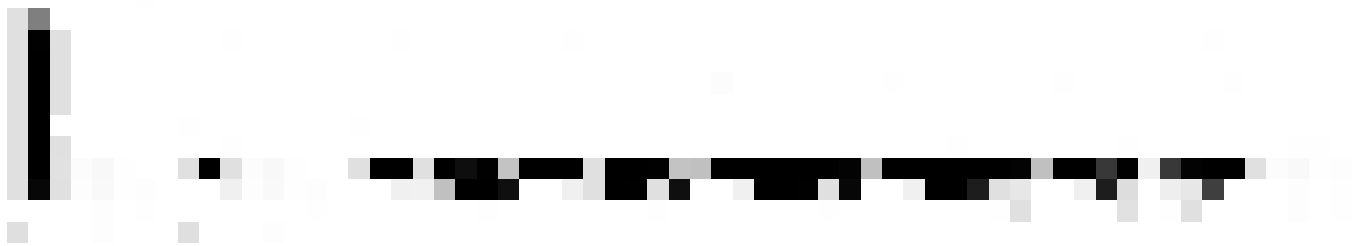
चेहरा—तुम्हारे-जैसा रूप-रंग ! हू-ब-हू तुम्हारी कार्बन कॉपी ?"

"बैचलर है तो शादी क्यों नहीं कर लेती उससे ?"

"शादी करनी होती तो फिर तुम्हें ही क्यों इनकार करती ? तुम-जैसा लाइफ़-पार्टनर मुझे सात जनम नहीं मिल सकता, मैं जानती हूँ देवेन !"

वसुधा ने उसके सीने पर माथा टिका दिया, "अब अगले जनम में करेंगे हम मैरेज...हाँ...!"

गीली पलकें मरी हुई तितलियों की तरह उसके चौड़े सीने पर कहीं चिपक गयीं !

छह

एक सप्ताह बम्बई में भटककर लौट आयी—वसुधा। मिस बाली ने भी कम दौड़-धूप न की। एक-एक स्टूडियो छान मारा, लेकिन कहीं कुछ पता न चला।

देवेन वहीं से चण्डीगढ़ चला गया और वसुधा ने राह पकड़ी दिल्ली की।

घर की देहरी पर पाँव रखा ही था कि दरवाज़े पर कंचन खड़ी मिली।

अवाक् देखती रही वसुधा।

"तुम कब आयी ?"

"परसों...!"

"कहाँ गयी थी ?" वसुधा की आँखें अंगारे की तरह धधक रही थीं।

"बम्बई !" सकपकाती हुई कंचन बोली।

"बताकर क्यों नहीं गयी थी ?" डपटकर कहा वसुधा ने, "तुझे जाना ही था तो क्या इन्फ़ॉर्म करके नहीं जा सकती थी ! तुम्हारे लिए इस घर में किसीका कोई महत्त्व नहीं ?"

वसुधा ने तड़ाक से एक चाँटा जड़ दिया, "बिना पूछे अब घर से बाहर पाँव रखा तो मुझसे बुरी कोई न होगी ! मैं तुम्हारे लिए क्या-क्या नहीं कर रही और तुम हो कि...!"

माँ रोती हुई कंचन की बाँह थामकर भीतर ले गयी। दरवाज़े पर
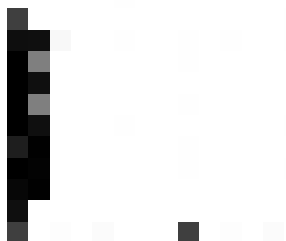
पास-पड़ोस के लोगों की भीड़ लग गयी।

लम्बी यात्रा से थकी हुई वसुधा ने सोफ़े पर बैग पटका और पलंग पर निढाल-सी गिर पड़ी।

माँ कुछ देर बाद चाय का प्याला रख गयी, पर वसुधा ने पी नहीं।

दूर एक कोने में बैठी कंचन सिसकती रही।

अलसायी, बोझिल पलकें ऊपर उठाती हुई, वसुधा कुछ समय बाद स्वयं ही उठी। टेबिल पर रखी घड़ी में देखा—नौ बज चुके हैं!

ऑफ़िस भी जाना है अभी! बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की मीटिंग होनेवाली थी, पता नहीं उसका क्या हुआ? फ़ैक्टरी में हड़ताल होने की अफ़वाह ज़ोरों पर थी। आज भी न गयी तो मुश्किल हो जायेगी! प्राइवेट नौकरी है। जवाब दे दिया गया तो दाने-दाने के लिए मोहताज हो जायेंगे सब!

बाथ-रूम के लिए वह बढ़ ही रही थी कि उसके पाँव अपने-आप छत की ओर मुड़ने लगे।

ऊपर आकर देखा—पिता अचेत-से पड़े हैं। उनके पाँव के पास बैठा मीचे रो रहा है।

"कब से तबीयत बिगड़ी मीचे...?" अधीर स्वर में वसुधा ने पूछा।

"परसों से दूध-सूध कुछ नहीं लिया। कल शाम से आँखें भी बन्द कर ली हैं...।" मीचे डरता-डरता बोला।

"माँ नहीं आयी थी ऊपर?"

"नहीं...!" आस्तीन से नाक साफ़ करने लगा मीचे।

"तुमने माँ से कहा भी नहीं?" आश्चर्य से वसुधा ने देखा।

रुग्ण पिता की दाढ़ी घास की तरह बढ़ आयी थी। सूखे होंठों पर काली पपड़ी जम रही थी। सारा शरीर सूखी लकड़ी-सा लग रहा था। खाल हड्डियों से अलग-अलग झूल रही थी। गन्दी चीकट चादर नीचे बिछी थी। फटा तकिया! तार-तार सूती खेस!...

"माँ से कहा, लेकिन वह ऊपर आयी ही नहीं!"

"डॉक्टर भी फिर क्या बुलाया होगा?" स्वयं ही बुदबुदाती हुई वसुधा ने माथे पर हाथ लगाया, तप रहा था बुरी तरह।

पास ही मार्केट में फ़ार्मेसी थी। ऊपर डॉक्टर घोष का निवास था।

उसी तरह अस्त-व्यस्त कपड़ों में वसुधा भागती-भागती डॉक्टर घोष को बुला लायी।

डॉक्टर घोष ने बड़ी बारीकी से निरीक्षण किया। एक इन्जेक्शन दिया। कुछ दवा पिलायी और दोपहर में फिर आने का आश्वासन दिया।

जल्दी-जल्दी नहा-धोकर वसुधा ऑफ़िस के लिए तैयार होने लगी।

अभी रोटी का पहला ही कौर तोड़ा था कि माँ कपाल पर दुहत्थी मारकर सामने बैठ गयी। रोती-सिसकती बोली, "क्या करें, इस करमजली ने कहीं का न रख छोड़ा बस्सो! जब से आयी, खाना-पीना सब छोड़ दिया है। कल डाक्टरनी को दिखलाया तो वह दो महीने बता गयी है...!"

● ●

ऑफ़िस में भी मन न लगा वसुधा का। पत्थर के एक-एक टुकड़े को चुन-चुनकर उसने जो हवाई-महल खड़े करने के सपने सँजोये थे, उसे लगा आज सब गिर गये हैं। अपना ही जीवन उसे व्यर्थ लगने लगा। वह सब भी हो सकता है, उसने कभी सोचा न था।

शाम को वसुधा लौटी तो घर में मातम-सा छाया हुआ था।

माँ ने बताया कि ग़ुस्से में कंचन ने कुछ खा लिया था, बड़ी मुश्किल से डॉक्टर ने प्राण बचाये।

कंचन अचेत-सी लेटी थी। पिता को एक सौ तीन टेम्परेचर था।

सारी रात वसुधा जागती रही। मीचे पिता के सिरहाने बैठा ऊँघता रहा। घड़ी देखकर दो-दो घण्टे बाद दवा पिलाता रहा...।

दूसरे दिन माँ ने बताया कि वही मुआ खन्ना फ़िलिम में काम दिलाने की बात कहकर बम्बई भगा ले गया था। वहाँ पता नहीं किस-किसके दर-वाज़े पर इसे फिराता रहा। सुना है इसके द्वारा अपना कुछ काम निकाल-कर इसे यहाँ पटक गया है।

"अब क्या करें?" वसुधा ने माँ की ओर देखा, "किसी को पता चल गया तो महल्ले में रहना मुश्किल हो जायेगा। फिर इसकी ज़िन्दगी जो बिगड़ेगी ऊपर से।...मैं सोच रही थी...इस बार अगर यह मिल जाती है तो कहीं इसका विवाह कर देंगे, लेकिन इसने तो अब यह चमत्कार

दिखला दिया...!"

"दाई को यहीं बुलाकर...!" माँ ने अपनी ओर से सुझाव रखा।

"यहाँ भी हो तो सकता है, लेकिन कहीं किसी को पता चल गया तो?"

"पता कैसे चलेगा! कह देंगे बीमार है!"

"कितने रुपये लगेंगे?" वसुधा ने कुछ सोचते हुए पूछा।

"सौ-सवा सौ से कम में हो जायेगा। अमर-कॉलनी में अभी कुछ दिन पहले गुरचरन कौर ने बुलवायी थी अपने घर! क़रीब इतने ही लगे बताती थी। इससे कम में भी हो जाता है, पर दाई ऐक्सपरट नहीं होगी!"

माथे पर हाथ रखे वसुधा सोचती रही—अमृतसरवाले मास्सड़जी परिवार के साथ आनेवाले हैं। किसी भी क्षण फ़ौज-फ़र्रा के साथ धमक सकते हैं। फिर क्या होगा?

रात इसी उधेड़बुन में बीत गयी।

सवेरे जल्दी जाग गयी वह। माँ को जगाती हुई बोली, "हरिद्वार-वाली गाड़ी कब जाती है!"

"क्यों? क्यों?" अचकचाकर माँ जागी।

"तुम दोनों अंकल को साथ लेकर वहीं चली जाओ। दस-पन्द्रह दिन में जब ठीक समझो, लौट आना।"

झटपट पोटली में आवश्यक सामान बाँधकर वे दोनों जब फ़ोरसीटर पर बैठीं तो पास-पड़ोस की महिलाएं घिर आयीं।

और देखते-देखते फ़ोरसीटर धूल उड़ाता हुआ ओझल हो गया।

"बस्से, कित्थे गयी तेरी माँ ते पैन एन्ने स्वेरे?"

वसुधा उसी तरह काम में लगी रही। बोली, "गंगा-नहान दे लई अंकल दे नाल हरिदुआर!"
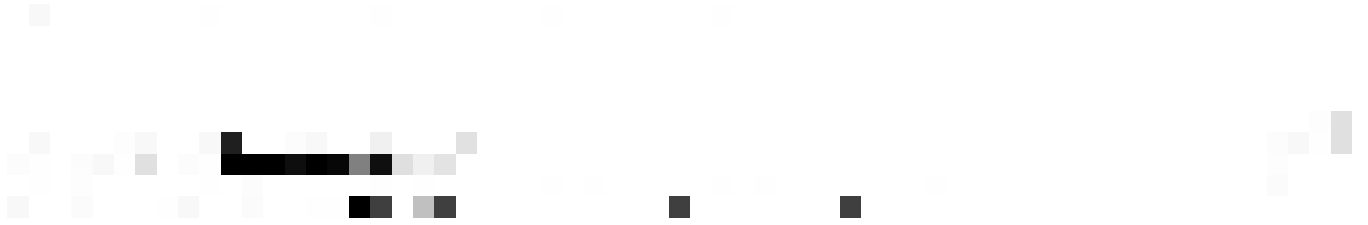
सात

अभी दस-ग्यारह दिन भी न हुए कि माँ दिल्ली लौट आयी। साथ में केवल कपड़ों की एक पोटली थी।

इन कुछ ही दिनों में माँ की सारी आकृति बदल आयी थी। बालों पर सफ़ेदी घिरी थी। चेहरे की चमक उड़ गयी। कमर कुछ झुक आयी थी।

"कंचन कहाँ है चाईजी ?" माँ को कभी-कभी वह इसी सम्बोधन से पुकारा करती थी।

"कंचो मर गयी बस्से !" माँ दहाड़ मारकर रो पड़ी।

"कब ? कब ? क्या हुआ ? कैसे ?" वसुधा ने घबराकर एक साँस में कई प्रश्न पूछ डाले।

माँ रोती रही, कुछ बोल न पायी। अन्त में कपड़ों की पोटली में बंधे एक मुसे हुए मैले-फटे काग़ज़ के टुकड़े को उसने आगे बढ़ा दिया।

वसुधा ने उलट-पुलटकर देखा। दौबारा-तिबारा देखा। फिर परेशान सी बुदबुदायी, "यह तो धर्मशाला के किराये की रसीद है, चाईचीं...!"

माँ ने झपटकर देखा। कपाल पर हाथ धरे क्षण-भर कुछ सोचती रही। फिर बोली, "तो वह काग़ज़ वहीं कहीं छूट गया होगा बस्सो !" और फिर वह उसी तरह रोने लगी।

"क्या लिखा था उसमें ?" वसुधा अधीर हो उठी।

"मिठ्याई वाले हलवाई से पढ़वाया था। कहता था—लापता होने—मरने की-जैसी कोई बात लिखी लगती है...।"

"लापता हुई कब ?"

माँ ने बताया कि यहाँ लौटने को तैयार ही थे कि उससे एक दिन पहले, आधी रात को वह उठी। शायद सण्डास जाने के लिए कमरे से बाहर निकल गयी। जब देर तक न लौटी तो मैंने बाहर झाँका, लेकिन उसका कहीं कुछ पता न था। धरमशाला के चौकीदार, मनेजर, दूसरे मुसाफ़िरों तक को जगाया, लेकिन कंचो का कहीं सुराग न मिला।... एक औरत कह रही थी कि अभी-अभी कोई नदी की तरफ जा रही थी। हो सकता है वही हो...! लेकिन वहाँ भी वह मिली नहीं।

"तो मुझे क्यों नहीं बुलवा लिया, तार भेज देती ?"

"तुझे बुलाकर भी क्या करती बस्सो! मेरी तो किस्मत ही फूट गयी—!" माँ फिर रोने लगी, ज़ोर-ज़ोर से।

"जो चिट वह छोड़ गई थी, वह कहाँ मिली...?"

माँ ने दुपट्टे से आँसू पोंछते हुए कहा, "कंचो के तकिये के नीचे रखी मिली, अगले स्वेरे।"

घर में उस दिन एक अजीब-सी मुरदनी छायी रही।

वसुधा दो-तीन दिन तक ऑफ़िस न जा सकी। बीमारों की तरह बिस्तर पर पड़ी रही। रह-रहकर सोचती—कहीं भेजने की अपेक्षा यहीं कुछ व्यवस्था करवा लेते तो अच्छा रहता। इतने दिन लापता रहने के बाद अब मुश्किल से घर लौटी और यह...!

अँधियारा घिरने लगा तो वसुधा की आँखों के आगे फिर कंचो घूमने लगी।

कौन जाने उसने शर्म के मारे नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली हो! माँ बतला रही थी, किसी ने नदी की ओर एक औरत को अँधियारे में जाते देखा था!—उसके हाथ का लिखा काग़ज़ कहाँ होगा? उसमें क्या लिखा होगा? हो सकता है माँ के समझने में कुछ भूल हुई हो। कंचो जान-बूझकर कहीं भाग गयी हो! लेकिन, कहाँ? क्यों? किस लिए?

यह बात बार-बार वसुधा को सालती जा रही थी कि उसने उस दिन चाँटा क्यों मारा! आज तक कभी किसी पर हाथ नहीं उठाया था! फिर यह सब क्या हो पड़ा?

बहुत खोजबीन करवायी वसुधा ने हरिद्वार जाकर, पर कहीं न कंचन
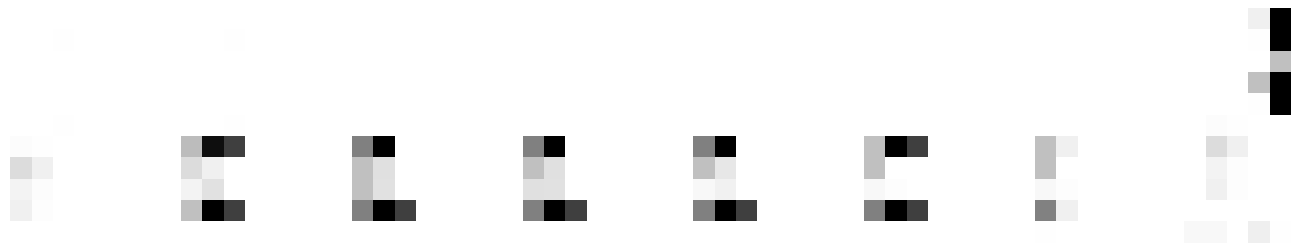
मिली न कोई उसका पता।

पिता का स्वास्थ्य इधर दिनोंदिन गिरता चला जा रहा था। अतः उन्हें अस्पताल में भर्ती करा दिया था। मीचे की पढ़ाई छूट गयी थी। दिन रात उसे अस्पताल में रहना पड़ता। माँ केवल रोटी देने जाती थी उधर। माँ के लिए पिता के जीवित होने का कोई अर्थ न था।

● ●

बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की मीटिंग में इस बार तय किया गया कि कम्पनी की एक ब्रांच बम्बई में भी खोली जाये, ताकि सारा काम व्यवस्थित चल सके। एक तो दिल्ली ऑफ़िस काफ़ी दूर पड़ता था, दूसरे उसपर 'लोड' भी अधिक था। इस लिए अकसर काम में देर लग ही जाती।

न्यू मेरीन लाइन्स में ऑफ़िस के लिए जगह निश्चित की गयी। और पहली तारीख से वहाँ कार्य आरम्भ करने की घोषणा भी कर दी गयी।

जिन कर्मचारियों के ट्रान्सफ़र के ऑर्डर्स थे उनमें वसुधा भी थी एक।

घर की हालत ऐसी नाज़ुक ! उस पर सब कुछ छोड़कर बम्बई जाना वसुधा को असम्भव-सा लगने लगा।

"मुझे यहीं कुछ काम दे दीजिए सर !" डाइरेक्टर मंगलम् से एक दिन गिड़गिड़ाती-सी बोली। जब से इस सर्विस में आयी है वसुधा, बराबर ही मंगलम् के साथ एटैच्ड रही है। मंगलम् भी उससे ख़ुश हैं, हर तरह से।

उसकी परेशानियों के बारे में मंगलम् चुपचाप सुनता रहा। अन्त में सिगार की राख ट्रे में झाड़ता हुआ बोला, "बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की मीटिंग में सब लोग तुम्हारा पोस्ट एबॉलिश करके, बम्बई में नया पोस्ट क्रिएट करने को बोलता था। चेयरमैन किसी और में इण्टरेस्टेड़ था। वह तो हम था जो तुमको रखने को बोला। अभी चलो। ट्रान्सफ़र का बाद में देखेगा...!"

विवश होकर एक दिन उसे जाना पड़ा।

बम्बई की जिन्दगी रास न आयी उसे, जब से गयी, बीमार रहने लगी। न खाने को मन करता, न सोने को। एक विचित्र-सी बेचैनी हर क्षण छायी रहती।

हर समय घर की याद आती। कंचन के लापता होने का आघात वह अब तक सह न पायी थी। जब भी बाहर हवा से दरवाज़ा खटकता उसे लगता—कंचो आयी !...

पिता कब तक अस्पताल में रहेंगे, बाद में क्या होगा—सब अनिश्चित था। माँ पर उसे अब खीज न आती। बहुत बार सोचती रह जाती कि पता नहीं ऐसी कौन-सी विवशता रही जो ज़िन्दगी-भर वह निरन्तर भटकती रही ! तन की ही भूख नहीं, शायद मन की भी बात थी। कभी कहीं पूरा सन्तोष न हुआ उन्हें !

घर की परिस्थितियां अच्छी होतीं तो शायद कंचो का भी यह हश्र न होता। पढ़ने में पहले कितनी तेज़ थी ! आठवीं तक वजीफ़ा मिलता रहा लेकिन बुरे संग-साथ ने अन्त में कहीं का भी न छोड़ा।

मीचे अपने ही घर में लावारिसों की तरह रहता है। खिलौने कैसे होते हैं—उसने कभी नहीं जाना। बच्चे कितना लड़ते-झगड़ते हैं, रूठते-मचलते हैं, लेकिन वह हमेशा गुमसुम बैठा रहता है। माँ को पता नहीं क्यों उससे चिढ़ है ! उसे पास तक नहीं फटकने देतीं वह...!

वसुधा को याद आया...उसका चेहरा उस अंकल से कितना मिलता-जुलता है, जो गान्धीनगर से आया करते थे। पहले लड़ते-झगड़ते फिर घुल मिलकर बातें करते। माँ के माथे का जख्म उन्हीं का दिया हुआ है। एक दिन आधी रात को टेबिल-लैम्प दे मारा था ...!

जितना अधिक से अधिक बचा सकती है, वसुधा घर भेज देती। ट्रेन से रोज़ बीस-पचीस मील का सफ़र हो जाता। ऑफ़िस की थकान, रास्ते की ऊब !

उसका मन होता, नौकरी छोड़कर वापस लौट जाये ! लेकिन फिर इतनी अच्छी नौकरी मिलेगी कहाँ अब ? फिर दफ़्तर-दफ़्तर का चक्कर, हर किसी की हमदर्दी के पीछे छिपा स्वार्थ ! गिद्धों की-सी मुद्राएँ—घृणित घिनौनी !

सोचते-सोचते वसुधा का मन काँप-काँप आता।

"यहाँ मेरा जी नहीं लगता सर !" एक दिन मौक़ा देखकर मंगलम् से बोली, "मुझे हैड-ऑफ़िस भिजवा दीजिए।"

देखने में बड़ा भयंकर लगता था मंगलम्, लेकिन स्वभाव का बहुत अच्छा था।

"वहाँ भेज देने से क्या हो जायेगा?" अपनी गंजी खोपड़ी का पसीना वह हाथ से ही साफ़ करने लगा।

"फ़ादर बहुत बीमार हैं, लम्बे अरसे से सिक...?"

"तो पहले क्यों नहीं बोला?" मंगलम् इतना कहकर उस समय चुप हो गया। लेकिन, दूसरे ही दिन से उसने वसुधा के तबादले के लिए कोशिश शुरू कर दी। क़रीब दो महीने से भी कम समय लगा कि मंगलम् एक दिन स्वयं काग़ज़ लिए उसके क़ैबिन में आया।

"आर यू हैप्पी नाउ?" उसने छिले बादाम-जैसे अपने दाँतों को बिखेरा और उसके झुके हुए कन्धे पर बड़े स्नेह से हाथ रखा, "वन वीक जॉएनिंग टाइम सैंक्शन किया। कल को हम रिलीव कर देगा...!"

कृतज्ञता से वसुधा भर-भर आयी।

मंगलम् ने सीट की व्यवस्था करवा दी ट्रेन में। और अपनी कार में स्वयं स्टेशन तक छोड़ आया। ट्रेन चलते समय ज़बर्दस्ती कुछ नोट उसकी मुट्ठी में दबाकर बड़े द्रवित स्वर में बोला, "आ'इल नेवर फ़ॉरगेट यू...!"

आठ

दिल्ली आकर कंचन की खोज में वसुधा फिर जुट गयी। सभी रिश्तेदारों को, जान-पहचान वालों को फिर से पत्र भेजे।

माँ दिन-रात अपने मत्थे को कोसती रहती, "जिन्दा हुन्दी ते घर न औन्दी ?"

वसुधा का स्वास्थ्य सुधरना तो कहाँ, धीरे-धीरे गिरता ही गया। डॉक्टर ने लम्बे आराम की सलाह दी और वह छुट्टी लेकर घर बैठ गई।

घर में भी मन लगता न था। हरदम उखड़ा-उखड़ा-सा रहता।

एक दिन बिस्तर पर पड़े-पड़े पता नहीं क्या-क्या सोच रही थी ! उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से आँसू रिस रहे थे। देवेन को लिखा पत्र उसकी मुट्ठी में भिचा था। पसीने से भीगकर गल-सा गया था।...जब भी उसे बहुत परेशानी अनुभव होती है, जब भी वह गहरी निराशा में डूबने लगती है, तभी उसकी आँखों के आगे एक आकार उभरता आता है...। और तब ही कभी-कभी उस बहाव में वह पत्र लिखने लगती है। जो कुछ जी में होता है, सब उड़ेल देती है...। लेकिन पत्र भेजती नहीं, दिनों तक अपने पास संजोये रखती है, फिर चुपके-से फाड़ देती है।

इतनी बड़ी दुनिया में कहीं कोई ऐसा नहीं दिखता, जिससे मन की बात कह सके ! देवेन था एक, वह भी अब धीरे-धीरे दूर हो रहा था ! दूर हो चला !

एक दिन सुबह-सुबह वसुधा को आवाज सुनाई दी, "चाईजी, कंचो आ गयी ए !"

वसुधा जैसे सपने से जागी ! बिछौने पर ही उठ बैठी !

माँ चीनी लाने बाजार गयी थी। मीचे अस्पताल से अभी लौटा न था।

जीती-मरती...किसी तरह वसुधा उठी। बारह तक आयी तो विस्मय से देखा—कंचन खड़ी है !

"कंची, तू आ गयी—?" वसुधा लिपट पड़ी, "कहाँ चली गयी थी तू ?" गला भर आया उसका।

माँ के हाथ से चीनी का डोंगा पता नहीं कहाँ गिरा ! कंचन को बाँहों में समेटकर वह ज़ोर से रो पड़ी।

पास-पड़ोस की औरतें और बच्चे घिर आये। क्षण-भर में, सारे महल्ले में बात फैल गयी कि कंचो ज़िन्दा ए। घार आ गयी ए !

कंचन की कंचन-सी देह का रंग ही बदल गया था। एकदम साँवला-साँवला लगता। चेहरे पर झाइयाँ थीं। सारा शरीर क्षीण, जैसे लम्बी बीमारी से अभी-अभी उठकर आयी हो !

माँ उसका हाथ थामकर अन्दर ले गयी और सोफ़े पर लिटा दिया।

रात को कंचन ने जो-जो घटनाएँ सुनायीं वे रोंगटे खड़े कर देने वाली थीं।

कंचन ने बतलाया कि उस रात पता नहीं क्या हो पड़ा था उसे !... सुबह की गाड़ी से दिल्ली लौटने की बात थी। माँ ने इधर-उधर बिखरा सामान रात में ही समेटकर रख लिया था, कि सुबह जल्दी में कोई चीज छूट-छूटा न जाये !...रात को अजीब-अजीब-से सपने आते रहे। सपने में ही किस तरह से न जाने क्या हुआ ! किवाड़ खोलकर बाहर निकल पड़ी और पता नहीं किधर चलने लगी ! चलते-चलते फिर क्या हुआ, पता नहीं।...अगले सबेरे आँखें खुलीं तो उसने अपने को कहीं रेत में लेटी पाया। कपड़े पूरे भीगे थे। कई अनजानी-अनदेखी आकृतियाँ उसे घेरे खड़ी थीं। होश-सा हो आने पर वे एक खण्डहर-जैसे उपेक्षित और उजाड़ पड़े पुराने मकान में उसे ले गये। फिर थोड़ा-सा उन्होंने गरम दूध पिला कर उसे एक खटिया पर सुला दिया।

दिन में जब नींद खुली और बाहर आने के लिए द्वार खोलने का प्रयास किया तब किवाड़ बाहर से बन्द मिले। कोई खिड़की भी न थी।

टूटे कनस्तर और पुरानी मेज़-कुरसियों के टुकडे बिखरे पड़े थे। दीवार पर छिपकलियाँ सरक रही थीं। कमरे में तमाम सीलन थी। पास ही, चारपाई के पाये के पास एक मटमैला, काला घड़ा था।

कंचन का दम घुटने लगा। वह टूटी चारपाई पर निढाल गिर पड़ी। सोचती रही—ये लोग कौन हैं? क्या हैं? कहाँ ले आये हैं? उसका अब क्या होगा? भले लोग होते तो यहाँ इस तरह उजाड़ निर्जन में यों क्यों पटक देते!

भय से वह काँपने लगी। होंठ सूख आये। देह में इतनी शक्ति न थी कि आसानी से चल-फिर भी सकती।

उसने घड़े से अँजुलि में पानी लेकर पीना चाहा। पर अजीब-सी गन्ध आ रही थी! पता नहीं कितने दिन का सड़ा हुआ था!

रात को अँधियारे में डरावनी शक्ल के दो आदमी आये और एक थाली में कुछ खाना पटककर चले गये। जाते समय चेतावनी दे गये—चीख़ना चिल्लाना नहीं! नहीं तो बोटी-बोटी अलग कर देंगे।

बाहर उसी तरह फिर ताला लटक गया था।

भूख से वह बेहाल थी, पर रोटी तोड़ते समय हाथ काँपने लगे। गले से कौर नीचे उतारते बनता न था!

खाया-अनखाया कर, वैसी ही वह चारपाई पर बैठ गयी। लकड़ियों के ढेर में खटर-पटर की आवाज होती! शायद चूहे दौड़ रहे थे।

चारों ओर घुप्प अँधेरा।

चीख़ने को मन हुआ, लेकिन गले से शब्द ही फूटकर न निकला!

कहीं दूर बाहर ट्रकों के चलने की आवाज़ आ रही थी।

कंचन बैठी-बैठी ऊँघने लगी कि बाहर बरामदे में जूतों की आहट हुई। फिर कुण्डा खटका और कई लोग भीतर घुस पड़े।

द्वार पर इस बार भीतर से ताला लगा दिया गया।

कुछ देर वे लोग खड़े-खड़े बातें करते रहे। उससे क्या-न-क्या कहते-पूछते रहे। फिर थोड़ी ही देर बाद वे पशुवत् व्यवहार के लिए आमादा हो उठे। नशे में धुत्त उन्होंने कंचन के कपड़े खींचना-फाड़ना शुरू कर दिया। कंचन पीछे को हटती-बचती लकड़ियों के ढेर पर जा गिरी! तमाम शरीर
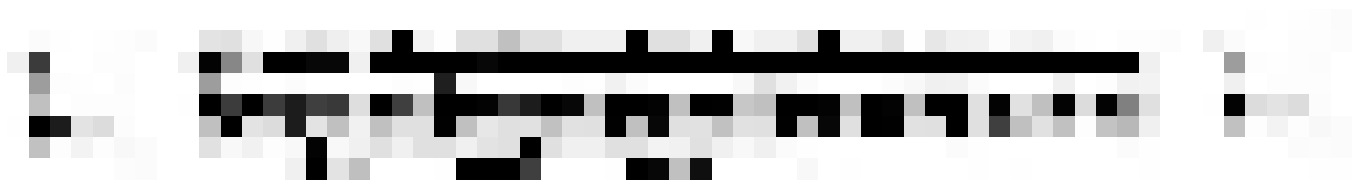
लहू-लुहान हो गया।

एक साथ इतने पशुओं का वह मुक़ाबला भी कैसे करती ! अन्त में एक ने आवेश में आकर उसे फ़र्श पर ज़ोर से दे पटका और मुंह में कपड़ा ठूँस दिया।

कंचन की दुर्बल देह पीले पत्ते की तरह थर-थर काँपने लगी। उसके हाथ-पाँव सहसा शिथिल हो गये। उसमें इतनी शक्ति शेष न थी कि कुछ भी प्रतिरोध कर सके।

चीख़ती-चिल्लाती, छटपटाती-काँपती अन्त में वह मरी हुई चिड़िया की तरह निढाल हो गयी। असह्य पीड़ा से उसका रोम-रोम कसकने लगा और अन्त में वह बेहोश हो गयी...!

सुबह उससे उठना तो दूर, हिला तक न जा रहा था। चारपाई की पाटी पर माथा पटककर वह फूट-फूटकर रो पड़ी...!

तीन-चार दिन तक उसे यहाँ रखने के बाद, एक रात बाहर एक ट्रक आकर खड़ा हुआ। मुँह पर पट्टी बाँधकर, दोनों हाथों को रस्सी से झटकर, और ऊपर से काला बुरक़ा डालकर—उन्होंने उसे सामान के खाली बोरों के बीच ट्रक में रख दिया था।

रात-भर पता नहीं ट्रक किधर चलता रहा ! सुबह सूरज उगने से पहले एक गन्दी बस्ती में जाकर रुका और कंचन को वैसे ही बोरे की तरह उठाकर सीलन-भरे अँधेरे तहख़ाने में पटक दिया गया।

पाँच-सात दिन उसे रखा यहाँ। भर पेट खाने को दिया गया। नयी चुनरिया और ओढ़नी लायी गयी, नाक में एक बड़ी-सी नथ भी डाल दी।

रोज़ तरह-तरह के लोग आते और देखकर चले जाते।

रात को फिर वही सब दुहराया जाता। कोड़ों की मार से देह पर जगह-जगह नीले डोरे उभर आये थे।

कुछ दिनों बाद यहाँ से हटाकर फिर रातों-रात किसी दूसरे क़स्बे में ले जाया गया। पता नहीं इस तरह कितने शहरों में उसे घुमाते रहे।

बदबूदार-गन्दी कोठरियाँ, तहख़ाने, बचा-खुचा जूठा खाना, वह भी ठीक समय पर नहीं ! ऊपर से वक़्त-बेवक़्त छुरे दिखा-दिखाकर बलात्कार !

कंचन का चेहरा ही बदल गया था। वह समझ चुकी थी कि वह

औरतों का व्यापार करनेवाले गिरोह में आ पड़ी है जिसके चंगुल से निकल भागने का कोई रास्ता यहाँ न था ।

अन्त में उसे हापुड़ उठा लाये वे लोग । वहाँ मोल-भाव ठीक होने के बाद उसे भोपाल भेजने की योजना बन रही थी कि मौक़ा पाते ही रात को खिड़की की ढीली सरिया निकालकर वह अँधेरे में बाहर कूद पड़ी और लुकती-छिपती किसी तरह आ पहुँची...!

वसुधा की आँखों से आँसू बह रहे थे। माँ सिसक रही थी। नीचे फ़र्श पर बैठा मीचे रो रहा था।

"फिर वह चिट क्यों लिखकर छोड़ गयी थी सिरहाने ?" वसुधा ने पूछा तो कंचन आश्चर्य से बोली, "मैंने तो कोई चिट नहीं छोड़ी ! सिरहाने तो केवल डॉक्टर का लिखा प्रेस्क्रिप्शन था...!"

"जो हो गया उसे अब भूलने की कोशिश कर कंचो !" वसुधा बाहर सड़क पर खम्भे के ऊपर लगे जलते लट्टू की ओर देखती, उदासी में डूबती-उतराती हुई बोली, "और अब सब नये सिरे से सोच। यह बात बाहर किसी से मत कहना । कोई पूछे तो बोल देना कि देहरादून अपनी सहेली के घर चली गयी थी, चाईजी से रूठकर । वहीं बीमार हो गयी थी । अब कुछ ठीक होने पर सहेली ने समझा-बुझाकर वापस भेजा है !"

● ●

इस घटना यानी दुर्घटना के बाद कंचन बहुत बदल गयी। पुरानी सारी चाल-ढाल छोड़ दी उसने। कॉलिज में नाम कट गया था। हाज़िरी भी काफ़ी कम हो गयी थी, इसलिए वह प्राइवेट इम्तिहान देने की तैयारी करने लगी। दिन-रात अपने कमरे में बन्द रहती। बाहर निकलना तक उसने त्याग दिया था ।

वसुधा के स्वास्थ्य में भी इधर सुधार था। उसने ऑफ़िस जाना शुरू कर दिया था। माँ से भी उसने कह दिया था कि कहीं कोई अच्छा-सा मुण्डा मिल जाये तो कंचो का ब्याह कर देना ही ठीक है। नहीं तो आगे और स्यापे खड़े हो जायेंगे।...कच्ची उम्र में भूल से जो हो गया, हो गया। ब्याह के बाद औरत की एक नयी जिन्दगी शुरू होती है। इसे अच्छा-सा

घर-बार मिल जाये, हमारे लिए वही बहुत है।...

भटिण्डा मामाजी को लिख दिया था। राजौरी गार्डेन में मास्सड़जी भी कोशिश में लगे थे। बुलन्दशहर में भी दूर के कुछ रिश्तेदार थे।

ढूँढ़-खोज बहुत हो रही थी, लेकिन कहीं भी ठीक ढंग से बात तय होने में नहीं आ रही थी।

जाड़ों में मामाजी आये भटिण्डा से, छब्बीस जनवरी देखने, परिवार के साथ। सात-आठ दिन दिल्ली रहे। उन्होंने बतलाया कि लाहौर के राय-बहादुर रतीराम के ही ख़ानदान के कुछ लोग लखनऊ में हैं। बिज़नेस करते हैं। उनसे ब्याह-शादी भी पार्टीशन से पहले चलती थी। यदि वे लोग राज़ी हो जायें तो बहुत अच्छा रहे। अमीनाबाद में अपनी दुकान है। डालीगंज में अपना मकान। उनके ही कुटुम्ब के कुछ लोग गंगानगर में रहते हैं। इन्हें बीच में डालकर बात चलायी जा सकती है।

दिल्ली से लौटने के बाद उन्होंने कई जगह लिखा-पढ़ी भी शुरू कर दी।

तीन-चार महीने बाद उनका पत्र आया कि कंचो को साथ लेकर लखनऊ चली जाओ। कुड़ी-मुण्डा एक-दूसरे को अच्छी तरह देख लें तो ठीक रहेगा।

वसुधा कंचन के साथ लखनऊ गयी। लड़की सबको पसन्द आयी और जल्दी ही गरमियों में ही एक तारीख़ भी निश्चित कर दी।

नौ

विवाह तय होने की बात से जहाँ वसुधा को ख़ुशी थी, वहाँ परेशानी भी कम न थी। हज़ारों का ख़र्चा आयेगा : पास में धेला नहीं !

घर में भी ऐसा कुछ न था, जो आड़े वक़्त पर काम आ सकता। उलटे पिता की बीमारी और कंचन के लापता होने के कारण हज़ार-पाँच सौ का क़र्ज़ा ही चढ़ गया था ऊपर से।

ऑफ़िस में प्रॉविडेण्टफण्ड से कुछ रुपये उसने किसी तरह निकाले पर उतने से बनता क्या था !

एक दिन उसने कुमार से ज़िक्र छेड़ा तो वह बोला, "चावला से क्यों नहीं ले लेती ? इण्टरेस्ट पर कितनों को उसने दिया है। इंस्टालमेण्ट्स पर धीरे-धीरे चुकाती रहना।"

चावला उसी ऑफ़िस में इस्टैब्लिशमेण्ट ऑफ़िसर था। कौए-जैसी छोटी-छोटी आँखें, भिंचे हुए होंठ ! देखने-भर से लगता कि मक्कार है ! उस पर दिन-रात काला चश्मा पहनता तो और भी रहस्यमय लगता।

एक दिन लंच के समय वसुधा उसके पास गयी। सारी स्थिति उसने विस्तार से बतायी।

"इस समय तो सिंगल पेनी नहीं मिस्स !" गहरी सहानुभूति के भाव चेहरे पर लाता हुआ चावला बोला, "तुम्हें बहुत ही जरूरत है तो मैं किसी से अपने बिहाफ़ पर लेकर अरेंज कर दूंगा। मेरा फ़ाइनेन्सर इस समय शिमला में है। चाहो तो तुम मेरे साथ वहाँ चली चलो। हाथों-हाथ चेक मिल जायेगा !"

"आप चले जाइए न ! वहां से बाई-पोस्ट डिस्पैच कर दें !" वसुधा असमंजस से बोली, "जो इण्टरेस्ट आप तय करेंगे मैं दे दूँगी। इंस्टालमेण्ट्स का भी डिसाइड कर लें। अपनी पे में से मन्थली उतना चुका दूँगी।"

"मगर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप मैरेज ही बिलकुल सिम्पल 'वे' में करें ! जब पैसा पास में नहीं तो क्या ज़रूरत है बेकार की तड़क-भड़क की। अब तो दो-चार रुपये की कोर्ट-फ़ी चुकाकर अदालत में मैरिजेज़ हो रही हैं !" पासा पलटते हुए चावला ने कहा।

"आप की बात सही है मिस्टर चावला ! मैं भी एक्स्ट्रावैगेन्सी की फ़ेवर में नहीं। पर क्या करूँ, लड़केवाले सिम्पल मैरेज की बात नहीं मान रहे। अमीर घराना है। मैं भी सोचती हूँ, मेरे थोड़ा-सा कष्ट उठाने से सिस्टर की ज़िन्दगी बनती है तो अच्छा है ! रुपया तो क्या है, फिर भी चुकाया जा सकता है; लेकिन अच्छा-मनपसन्द घर मिलना आज-कल कितना कठिन है, आप जानते ही हैं !···कठिन नहीं, बल्कि कहिए रादर इस्पॉसिबल !" वसुधा एक ही साँस में कह गयी।

"जब सिस्टर के लिए इतना कर रही हैं तब कुछ और भी कष्ट उठाइए। मुझे अकेले जाने में एतराज़ नहीं, लेकिन 'स्वाल' यह है कि वह मुझे देगा नहीं। मैं उससे ऑलरेडी बहुत ले चुका हूँ। अब जाऊँगा तो मेरी बात मानेगा नहीं। हाँ, आप साथ होंगी तो शायद विश्वास कर जाये !" चावला इतना कहकर चुप हो गया।

कोई भी उत्तर न दे वसुधा उस समय चली आयी। बाद में सारी बातों पर देर तक सोचती रही। कहीं कोई किनारा न मिला तो अन्त में जाना ही पड़ा उसे।

उसे मालूम था चावला के पास यहीं बैंक में रुपया पड़ा है, लेकिन...।

इस 'लेकिन' का उसके पास कोई उत्तर न था। चावला उससे क्या चाहता है—वह जानती थी। रुपया पाने का अर्थ था, चावला की शर्तें पूरी करना...।

पूरे चार दिन बाद वसुधा लौटी शिमला से। उसकी पर्स में पाँच हज़ार के नोट थे।

पर मन बहुत भारी था उसका। दुनिया से ही एक तरह वितृष्णा हो
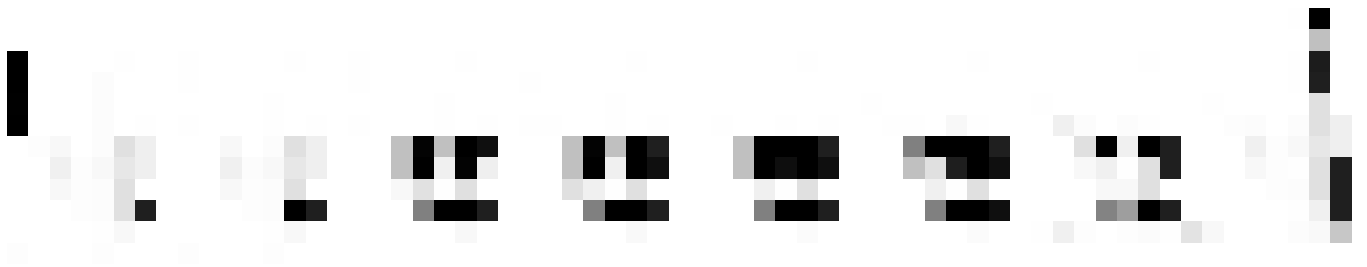
रही थी। क्या-क्या नहीं करना पड़ता, जीने के लिए! सारी व्यवस्था से ही उसे घृणा हो रही थी, लेकिन क्या करती! कंचो का भविष्य हमेशा आड़े आ जाता।

पी. एफ. के रुपये मिलाकर अब इतनी व्यवस्था हो आयी थी कि ब्याह का ख़र्च चल सकता था...।

वसुधा सारी चीज़ें आप ही ख़रीद-ख़रीदकर ला रही थी। जो साड़ी उसे पसन्द आती, ख़रीद लेती। यदि उसका अपना विवाह होता तो वह ठीक ऐसी ही, नहीं-नहीं, यही साड़ी ख़रीदती। ज़ेवर उसे कुछ विशेष ढंग के पसन्द थे। कंचन से पूछे बिना वह उन्हें ले आयी। शायद अपने विवाह पर भी वह ऐसे ही ख़रीदती!

कंचन जब सज-धजकर बैठी तो वसुधा को लगा, शीशे में वह अपना ही प्रतिबिम्ब देख रही है।

कंचन डोली में बैठकर जब चली गयी, तब उसे लगा, उसके अन्दर की वसुधा भी घर छोड़कर चली गयी। अब वह अकेली रह गयी है—केवल अकेली।

क़र्ज़ के भारी बोझ से दबी होने पर भी वह कितना हलकापन अनुभव कर रही थी!

कोई एक महीने बाद, कश्मीर में 'हनीमून' मनाकर, जब कंचन दिल्ली होती लौट रही थी तब वसुधा उसे स्टेशन पर मिलने गयी थी।

वह अब कोई दूसरी ही कंचन उसके सामने थी। चमकते हुए चेहरे में ख़ुशियाँ समा नहीं रही थीं। होठों की राह, दाँतों की राह, आँखों की राह छलकी-छलकी पड़ती थीं। कंचो का रोम-रोम महक रहा था। झलमिलाते रेशमी कपड़ों में वह परियों के देश की राजकुमारी-सी लग रही थी।

देर तक उसे भर आँखों देखती रही वसुधा! उसे लगा—शायद एक सपना सच हो गया है! और उसकी आँखों में ख़ुशी के आँसू उमड़ आये।

●●

दीवाली के दिनों उसे घर बुलाया वसुधा ने। वह आयी। उसे बाँहों
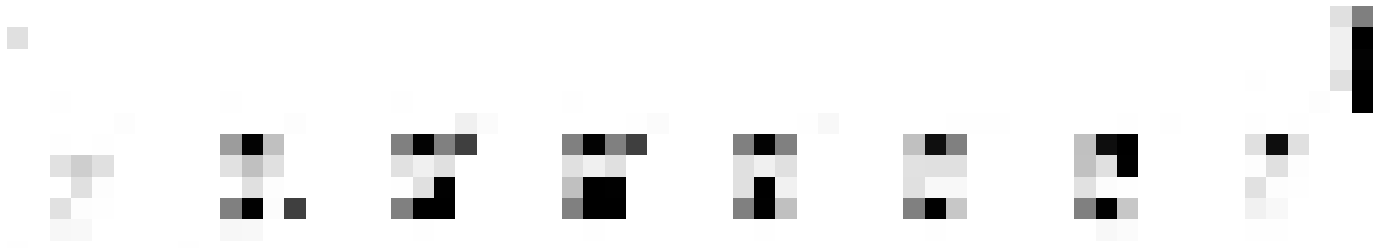
में समेटे वसुधा कितनी-कितनी शिकायतें करती रही—"तू समय पर चिट्ठी क्यों नहीं देती ! कभी ट्रंक-कॉल ही ऑफ़िस में कर लिया कर। तू सुख से तो है न ! मुझे सब कुछ मिल गया कंची !"

"हमारा घर भी क्या है दीदी, पूरा चिड़ियाघर !" एक दिन बातों-बातों में कंचन ने कहा, "सच्ची, किसी से कहना नहीं ! ससुर के सम्बन्ध जिठानी से हैं ! एक दिन, दिन-दोपहर अपनी आँखों से देखा मैंने...!"

"चुप, चुप !" वसुधा ने टोका।

"हाँ, हाँ, तुम्हारी क़सम ! 'की-होल' से देखा...। और हाँ !" जैसे एकाएक कुछ याद हो आये, "हमारे नैय्यर साहब का तो हिसाब ही और है ! शराब पीने और क्लबों में घूमने से ही उन्हें फ़ुरसत नहीं ! वहीं डालीगंज में ही उनके दूर के रिश्ते की कोई भाभी है, बड़ी सुन्दर। सुनते हैं साहब की आधी आमदनी वहाँ चली जाती है। क्लबों में भी सुना है छोकरियाँ पाल रखी हैं...। घर में सारा दिन पिसने के लिए मैं हूँ ! कश्मीर में ही जितना घुमाया बस्स। अब तो कहीं ले जाने का नाम तक नहीं लेते...!"

"चुप ! ऐसा नहीं कहते कंचो !" वसुधा ने उसके अधरों पर अँगुलियाँ रख दीं, "खोट किसमें नहीं होता पगली ? किसी की बुराई नहीं, अच्छाई देखने से ही कटती है ज़िन्दगी !"

कंचन चुप हो गयी, लेकिन वसुधा उसी तरह समझाती रही, "तू नहीं जानती, सहने से ही जिन्दगी चलती है। घर में सब से बनाकर रखना चाहिए। बाज़ार में घूमने-फिरने की तुम्हें ज़रूरत ही क्या ? गृहिणी के लिए घर ही स्वर्ग और पति ही परमात्मा होता है...। कहीं इधर-उधर कभी मत देखना। कौन क्या करता है, इससे तुझे क्या ? अब कहीं से तुम्हारे बारे में कुछ भी सुना मैंने तो याद रखना, मैं ज़हर ही खा लूँगी...!"

वसुधा का गला भर आया।

वसुधा ने अब अपने सारे ख़र्चों में कमी कर दी थी। कर्णफूल, गले की चेन—सब पता नहीं कहाँ चले गये थे !

हमेशा सादे-सफ़ेद कपड़ों में रहती। घर का ख़र्चा आधे से भी कम

कर दिया। टूर पर भी अब अधिक रहती। आये दिन ऑफ़िस के बाद ओवर-टाइम करती। आवश्यकता पड़ने पर छुट्टी के दिन भी ऑफ़िस चली जाती।

आधी से अधिक तनख़्वाह क़र्ज़ा चुकाने में लग जाती ! पर, इस सब का उसे रत्ती-भर भी मलाल न था; न ही किसी तरह का कोई कष्ट ही उसे सालता कभी। दिन-भर हँसती-उड़ती काम में जुटी रहती।

दस

डालीगंज का यह दोमंजिला मकान नया-नया ही ख़रीदा था—नैय्यर परिवार ने। नीचे का हिस्सा किराये पर चढ़ा दिया था। पिछवाड़े की तरफ़ आम के पुराने पेड़ थे, जिनमें आम लगते थे, पर खट्टे अचार के काम के।

जिस कमरे में कंचन रहती थी, उसके ठीक सामने नीम का एक बहुत बड़ा पेड़ था। छतरीनुमा, ख़ूब ऊँचा। तना बहुत मोटा न था। फिर हवा में झूलता हुआ इतना बड़ा पेड़ किस तरह खड़ा होगा? उसकी समझ में न आता था।

जब भी वह खिड़की खोलती, उसकी निगाहें इस पेड़ से टकरातीं, और उसे घर की याद हो आती! घर के आँगन में भी एक ऐसा ही पेड़ था।

अच्छा खाता-पीता परिवार था। आमदनी कम न थी, लेकिन घर में एक-एक पैसे का हिसाब रखा जाता। अशर्फ़ियों की लूट और कोयलों पर मुहर थी!

कंचन दिन-रात काम में लगी रहती थी। खाना बनाना, कपड़े धोना, पोंछा लगाना, ख़ाली वक्त में जिठानी के बच्चों को पढ़ाना—आराम का एक क्षण भी न मिलता उसे। ऊपर से सारी-सारी रात क्लब से पति महोदय आते न थे। वह उदास अकेली खिड़की पर बैठी नीम के उस काले डरावने पेड़ को देखती रहती। फिर पति का नशे में चूर आना और मारना पीटना तक चलता। यह सब नित्य का नियम जैसा हो गया था।

कंचन चुपचाप सब सहती। सोचती, धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा। झगड़ा करके भी हाथ क्या आयेगा ?

एक दिन रात को नैय्यर सीढ़ियों से ही शोरगुल मचाता हुआ आया। कमरे में घुसते ही कंचन का जूड़ा पकड़कर मारने लगा। मुँह से तमाम शराब की बदबू लपटें ले रही थी। पाँव लड़खड़ा रहे थे। गन्दी-अश्लील गालियाँ बक रहा था, बके जा रहा था।

कंचन ने समझा नशे में आज शायद होश खो बैठे हैं।

"यहां क्यों आयी तू, इस घर में ? किसी कोठे पर क्यों नहीं चली गयी थी ?" नैय्यर ने उसके कपड़े फाड़कर तार-तार कर दिये और एक ज़ोर का तमाचा मारा।

"मेरी कोई ख़ता तो...!" कंचन रोती हुई गिड़गिड़ायी।

"ख़ता ?" कड़ककर बोला नैय्यर, "ख़ता की बच्ची ! सारी बिरादरी में कहीं का भी न रखा तूने ! मेरी ज़िन्दगी बरबाद कर दी !"

"ऐसा क्या हो पड़ा मुझसे...हे भगवान !" वह चीख़ पड़ी।

ससुर, जिठानी, नौकर-चाकर सब इकट्ठे हो गये।

आधी रात का वक़्त था।

"क्या बात है ? क्या बात है ?" ससुर ने बीच-बचाव करते हुए कहा, "बब्बन, क्यों मारे जा रहा है बौहटी को ?"

"आप चुप रहिए पापाजी...!" पिता को एक तरफ़ धकेलता हुआ नैय्यर बोला, "मैं इसे अभी बताता हूँ...! मैं इसका ख़ून पी लूँगा !"

पत्नी को बाहर की ओर खींचने लगा नैय्यर।

बाहर टैक्सी खड़ी थी। कंचन को उसमें भीतर को धकेलता हुआ वह आप भी बैठ गया।

रात के गहरे सन्नाटे में टैक्सी भागी चली जा रही थी। बाहर झमा-झम पानी बरस रहा था। रह-रहकर बिजली कड़क रही थी।

"तू कभी बम्बई गयी थी ?" आवेश में नैय्यर ने सन्नाटा तोड़ते हुए कहा था।

कंचन ने आँसू-भरी आँखों से पति की ओर देखा और सिर हिला दिया।

तब नैय्यर ने एक गन्दी-सी गाली दी।

एक बड़ी-सी कोठी के आगे टैक्सी रुकी।

भड़ाक से दरवाज़ा खोलकर नैय्यर अन्दर घुस गया। पीछे-पीछे डरी-डरी, सहमी-सहमी कंचन भी लड़खड़ाती हुई चल रही थी।

सीढ़ियों से ही आवाज़ लगायी नैय्यर ने, "श्रीवास्तवा !"

श्रीवास्तवा शायद अब तक सो चुका था। आँखें मलता हुआ, झटपट कमरे के किवाड़ खोलकर बाहर आया, "क्या है बब्बन ! फिर कैसे ? अभी-अभी तो गये थे...! यह क्या ?"

श्रीवास्तव की पत्नी भी खिड़की पर झुककर झाँकने लगी।

नैय्यर श्रीवास्तव के कन्धे पर हाथ रखकर दालान की ओर बढ़ा, "अमा यार, वही एक बार फिर दिखा दे! इससे कुछ ज़िद हो पड़ी है...!" गिड़गिड़ाने के स्वर में बोला वह।

"तुम्हारा दिमाग़ तो दुरुस्त है...?" श्रीवास्तव ने अचरज से कहा।

"मैं बिलकुल ठीक हूँ यार। नशे की हालत में नहीं कह रहा, कुछ ऐसी ही बात है। 'ना' न कह। प्लीज़...!" वह श्रीवास्तव के घुटने छूने लगा, मिन्नतें करता हुआ।

"बाल-बच्चे सब जग गये हैं यार...!"

"अरे ड्राइंग-रूम में अभी कौन आता है? प्रोजेक्टर मैं ख़ुद चला लूँगा, तू दे दे बस !

श्रीवास्तव की समझ में कुछ न आया कि माजरा है तो क्या है !

अभी थोड़ी देर पहले श्रीवास्तव के घर पर कॉकटेल पार्टी थी। जिगरी दोस्तों का अच्छा जमघट था। खाने के बाद छोटे-से प्रोजेक्टर पर एक रंगीन 'ब्लू-फ़िल्म' दिखलायी गयी थी—सम्भोग करते हुए तरुणों की। नैय्यर उसी के लिए ज़िद कर रहा था।

अपना पल्ला छुड़ाने के लिए श्रीवास्तव ने फ़िल्म निकालकर दे दी। सोचा—दस-बीस मिनिट की तो बात है ! बला टल जायेगी। साला, बीवी को दिखाने लाया है।

सामान नीचे भिजवाकर श्रीवास्तव सोने चला गया। चौकीदार से कह गया कि साहब के जाने के बाद बत्ती बुझाकर कमरा लॉक कर दे।

खर्रर-खर्रर रील चलने लगी। सफ़ेद दीवार पर दो वस्त्र-विहीन रंग-बिरंगी आकृतियाँ झलकने लगीं।

पल-भर में कंचन की पलकें फैलकर बड़ी-बड़ी हो आयी थीं! देह पत्ते की तरह काँपने लगी थी। खन्ना के साथ जब भागकर बम्बई गयी थी, तब इस तरह का कुछ हुआ तो था। लेकिन अपने को वीभत्स रूप में, इस तरह से दिखने या दिखाने की उसने सपने में भी कल्पना न की थी।

उसकी आँखें अपने आप मुँदने लगीं। मेज़, कुरसियाँ, दीवारें सब तेज़ी से चक्कर काटने लगीं।

"हे रब्बा...!" कानों पर अपनी काँपती हथेलियाँ रखकर वह गला फाड़कर चिल्लायी और बेहोश होकर गिर गयी।

नैय्यर उठाकर उसे घर लाया और धकेलकर कमरे में फ़र्श पर ही फेंक दिया।

● ●

सवेरे को घर का सारा ही वातावरण बदला हुआ था। सब का इस बात का पता चल चुका था कि छोटी बोहटी ने नंगी फ़िल्म खिचवायी है। बब्बन ने ख़ुद देखी है!

सुबह-सुबह नैय्यर घर से यह कहकर निकल पड़ा था कि जब तक यह रण्डी इस घर में रहेगी, मैं यहाँ लौटकर नहीं आऊँगा।

दो-तीन दिन तक शोरग़ुल मचता रहा।

सास समझदार थी। बोली, "कच्ची उम्र में कहीं भूल हो गयी होगी। जब से इस घर में आयी है, पलकें ऊपर उठाकर किसी से बातें करते भी हमने नहीं देखा।"

"मैं तो इसे साच्छात लछमी समझे थी। इसके करम ऐसे खोटे होंगे—क्या पता था!" मोटे-मोटे थुल-थुल हाथों को मटकाती जिठानी बोली, "इस का छुआ पानी भी मैं तो नहीं पी सकती।"

कंचन गठरी की तरह ज़मीन पर निर्जीव पड़ी थी। रह-रहकर कराह रही थी। माथा फट गया था। जमे हुए लहू की लकीर पड़ गयी थी कपाल

पर। घुटनों में भी घाव थे। चारपाई का एक पाया बरामदे में रखा था। नशे की हालत में उसी से मारता चला गया नैय्यर !

चौथे दिन, सुबह की ट्रेन से वसुधा आयी तो नैय्यर ने 'ब्लू-फ़िल्म' की रील उसके हाथों में रख दी।

एक भी शब्द वसुधा ने न कहा।

बहन का हाथ थामा और चुपचाप चली आयी, स्टेशन की ओर।
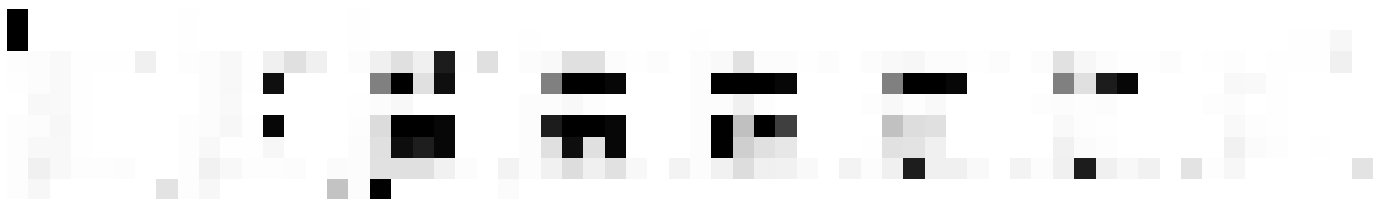
ग्यारह

कंचन दिन-रात रोती रहती। उसे लगता जैसे यह सब एक सपना है। कई बार आत्महत्या का विचार भी आया, लेकिन पता नहीं क्यों, उसे अब अपने में हिम्मत ही न लगती कि कुछ कर सके।

"जो हो गया, सो हो गया कंचो! इस सबको भूल जाओ अब। फिर नये सिरे से सोचो कुछ!" एक दिन उसे समझाती हुई वसुधा बोली, "पढ़ना चाहती हो तो फिर कॉलेज जाओ। पढ़ने में मन न लगता हो तो तुम्हारे लिए कहीं सर्विस का एरेन्जमेण्ट कर देती हूँ। जिससे तुम्हें ख़ुशी होती हो, जिसे तुम ठीक समझती हो, करो। मैं अब कभी भी तुम्हारे रास्ते पर नहीं आऊँगी।"

पढ़ने की तरफ़ अब कंचन का झुकाव नहीं रह गया था। यों बी. ए. फ़ाइनल के इम्तिहान की तैयारी वह कर रही थी। इन्हीं दिनों वसुधा की एक सहेली कुन्दनिका ने बताया कि दिल्ली में कुछ कलाकार मिलकर एक 'न्यू वेव थियेटर्स' नाम की नयी नाट्य-संस्था खोल रहे हैं। कंचन की इच्छा हो तो उस ग्रुप में शामिल हो जाये।

इस नाट्य-संस्था की सारी व्यवस्था कुन्दनिका के ही हाथ में थी।

घर में ख़ाली बैठने की अपेक्षा कंचन ने उसी में सम्मिलित होने का निश्चय किया।

आकृति अच्छी थी ही उसकी—आकर्षक! अभिनय की प्रतिभा भी कुछ होगी, इसीलिए रंगमंच पर वह जम गयी।

नाक में वैसी ही नन्ही 'नथ' उसने फिर धारण कर ली, जैसी विवाह

के पूर्व कॉलेज के दिनों कभी पहनती थी।

●●

घर की स्थिति धीरे-धीरे काफ़ी बदल गयी थी। माँ में अब और भी परिवर्तन आ गया था। घर के किसी भी काम में वह दख़ल नहीं देती थी। करौलबाग़ में दूर के रिश्ते के एक अंकल थे, विधुर। माँ उनके साथ एक-दो बार 'तीरथ-यात्रा' पर हो आयी थी। घर आकर कभी-कभी वह माँ को मंगलवार के दिन हनुमान् मन्दिर भी ले जाया करते थे। उनकी दोनों बेटियाँ जब कनाडा चली गयीं और वह घर में निपट अकेले रह गये तो इधर अस्वस्थ रहने के कारण उन्होंने देखरेख के लिए, कुछ दिनों के लिए माँ को अपने ही पास करौलबाग़ बुला लिया था।

लुधियाना वाली दादी अब बहुत बूढ़ी हो चली थीं। चलना-फिरना अलग रहा, आँखें भी खो बैठीं तो कुछ शुभचिन्तक रिश्तेदार उन्हें लाजपतनगर वसुधा के पास छोड़ गये थे।

पिता की तन्दुरुस्ती दिन-पर-दिन गिरती चली जा रही थी। स्मरण शक्ति भी अब जाती रही थी। कभी अस्पताल, कभी घर। ज़िन्दगी के अन्तिम दिन गिन रहे थे वह।

मीचे स्कूल में पढ़ रहा था, लेकिन उसे पढ़ने के लिए समय ही न मिल पाता था। कभी घर का काम, कभी पिता की देखभाल—सारा दिन भाग-दौड़ में ही निकल जाता था।

बारह

जाड़ों के दिन थे। चारों ओर घना कुहरा छाया हुआ था। रात देर तक लगातार बारिश हुई थी, इसीलिए आज बहुत अधिक सर्दी थी। लोग कहते थे, जाड़ों में दिल्ली का तापमान इतना कम कभी नहीं हुआ। पिछले चालीस सालों का यह रिकार्ड है।

कंचन के भविष्य के बारे में ही इधर निरन्तर सोचती रही वसुधा। किस तरह यह अपनी जिन्दगी गुजारेगी—उसकी समझ में न आता। दिन-रात नाटकों में ही लगी रहती थी, लेकिन उनसे होता कुछ न था। जेब-ख़र्च भी मुश्किल से निकल पाता था।

सुबह नाश्ता लेकर एक दिन वह बाहर निकल गयी। श्रीनिवासपुरी को जाने वाली सड़क के किनारे तीन पहिए वाला स्कूटर खड़ा था। वसुधा उसमें बैठ गयी।

"किधर जाना है बीबी जी?" उसने पूछा तो उसकी अजीब-सी निरीह आकृति देखकर वसुधा हँस पड़ी, "जिधर चाहो ले चलो।" उसने यों ही देखते हुए कहा।

वह असमंजस में देखता रहा।

"ग्रेटर कैलाश...!" कहकर फिर वसुधा एक किनारे को सिकुड़-सिमिटकर बैठ गयी। दस-बारह रुपये में कनॉट प्लेस में ऊनी-जैसी दीखने वाली सूती, रंग-बिरंगी चादरें बिक रही थीं, वहीं से वसुधा भी एक उठा लायी थी। चादर ओढ़ रखी है—दूर से देखने पर ऐसा भान अवश्य होता, लेकिन सर्दी उससे रुकती न थी।

ठण्ड से ठिठुरती वसुधा काँप रही थी।

पार्क वाले चौराहे के किनारे के मकान के आगे उसने स्कूटर रुकवा दिया।

"अरे तुम कैसे ?" कुमार ऊपर से ही चिल्लाया।

"क्यों, मुझे आना मना है ?" वसुधा मुसकरायी। फिर सीढ़ियों पर चढ़ती हुई बोली, "महँगा ज़माना है। राशन मिलता नहीं। सोचा एक दिन तुम्हारे यहाँ ही सही !"

"धन्न भाग ! धन्न भाग !" कुमार हो-हो हँसता हुआ, मुँह फाड़कर बोला।

कुमार सही अर्थों में कुमार था—चिरकुमार। एक्टरों की तरह बन-ठनकर रहता था। साधारण क्लर्क की हैसियत से भरती हुआ था, पर अब बहुत अच्छी पोज़ीशन पर पहुँच गया था।

वह चाय बनाने लगा तो वसुधा स्वयं रसोई में चली गयी और स्टोव पर चाय का पानी चढ़ाकर बाहर आयी।

"बड़ी क़ीमती चादर ले रखी है ?" व्यंग्य से कुमार ने कहा तो वसुधा हँस पड़ी।

"भई, ग़रीब आदमी हैं। ग़रीबों के ऐसे ही हाल हुआ करते हैं। कभी खाना नहीं, कभी कपड़े नहीं...!" वसुधा ने गम्भीरता से कहा।

"हम तो तुम्हें हीरोइन बनाने के ख़्वाब देखते रह गये, तुम्हीं न मानी तो हम क्या करें ? हमारा स्क्रिप्ट रखा का रखा रह गया। एक-दो सेठ लान देने को भी तैयार थे...!" कुमार सिगरेट सुलगाने लगा, "फ़िल्म में चली गयी होतीं तो आज इम्पाला में बैठकर आतीं। प्लेन से घूमतीं। तुम्हारी तो थिंकिंग ही कुछ अजीब है !"

"जो तुम कह रहे हो बिलकुल ठीक है। जो मैंने सोचा, उसे भी मैं ग़लत नहीं कहती, कुमार ! जब कोई मुझे इस बात पर टोकता है तब हर किसी को मेरा यही उत्तर रहता है। मैं नहीं मानती कि मैंने कोई ग़लत डिसीज़न लिया था।" वसुधा ने कुछ सोचते हुए कहा।

तभी कुमार भागता हुआ किचन में गया। पानी खौलने लगा था। कुछ ही देर बाद दो प्याले चाय दोनों हाथों में लिए बाहर आया।
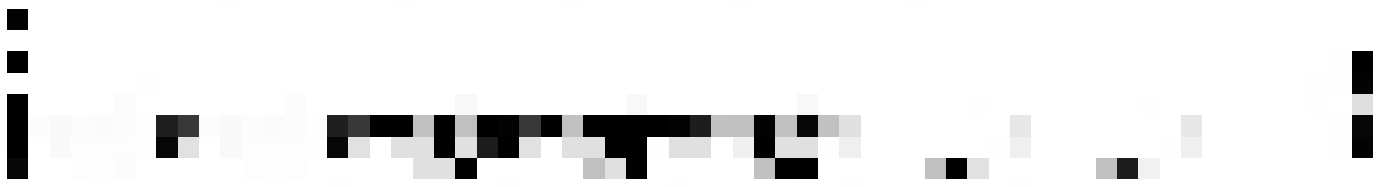
"चावला का लोन दे दिया ?" उसने पूछा।

"अभी बाक़ी है। इण्टरेस्ट बहुत तगड़ा ले लिया था न उसने।"

"डाइरेक्टर मेरे ट्रान्सफ़र के बारे में कह रहा था कल...!" गरम चाय की गहरी चुस्की लेता हुआ कुमार बोला।

"ट्रान्सफ़र ऑन प्रमोशन ?"

"च्च ! नहीं !" कुमार ने हाथ इस तरह झटके के साथ हवा में फेंका जैसे मक्खी भगा रहा हो, "ये साले क्या करेंगे प्रमोशन ? डायरेक्टर को सुनाकर कल मैं छाबड़ा से कह रहा था कि लक ने साथ दिया होता तो मैं भी कब का डायरेक्टर बन गया होता। फ़िल्म-डायरेक्टर क्या इनसे कम होता है !"

"अच्छा ठीक-ठीक बताओ, अब पोज़ीशन क्या है ?" उत्सुकता से वसुधा से पूछा।

"कहानी फिर सुनायी है, कुछ चेंज करके। लोन मिल जायेगा। वैसे कुछ और फ़ाइनेन्सरों ने भी प्रोमिज़ किया है। पहली फ़िल्म सक्सेसफ़ुल गयी तो अपन की क़िस्मत चमक जायेगी मिस वासु !"

"हीरोइन किसे रख रहे हो ?"

"क्यों, तुम तो हो...! हमारी हीरोइन बनना तुम्हें मंजूर नहीं ?"

वसुधा हँसने लगी, "मुझे तो कोई इण्टरेस्ट है नहीं कुमार ! हाँ, तुम कहो तो एक ज़ोरदार हीरोइन सुझा सकती हूँ !"

"ऐसा ही करो। हमारी फ़िल्म के लिए फ़िट हुई तो रख लेंगे।" कुमार चाय पीता रहा।

अपने पर्स में से वसुधा ने दो-तीन फ़ोटो निकाले। उन्हें कुमार की ओर बढ़ा दिया। और उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए बड़ी अधीरता से उसका चेहरा ताकने लगी।

"अरे वाह !" कुमार ने एक ठहाका लगाया, "यह तो तुम्हारी ही सिस्टर है !"

"मेरी सिस्टर होना क्या गुनाह है ?"

कुमार उसी तरह हँसता रहा, "यह किसने कह दिया कि गुनाह है ? बड़ा एट्रैक्टिव फ़ेस है। पर जिस रोल के लिए, हम तुम्हें लेना चाहते हैं,
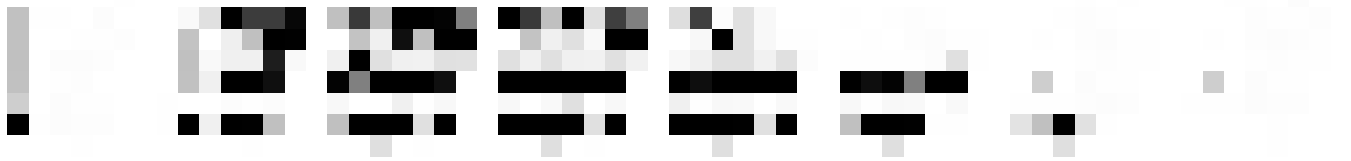
उसमें ठीक नहीं रहेगा।"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम एक नयी कहानी सेलेक्ट कर लो जिसमें इसे रोल दिया जा सके...?" दुविधा के साथ वसुधा ने कहा।

"बात असल में यह है मिस वसुधा, जिस कहानी का मैं ज़िक्र कर रहा था, उस पर काफ़ी काम हो चुका है। नये स्क्रिप्ट का अर्थ है, सारी बातें एक नये सिलसिले से स्टार्ट की जायें। फिर ऐसी कहानी खोजना, जो रियेली आर्ट-फ़िल्म के दायरे में ठीक बैठ सके, आसान नहीं है। तुम नहीं जानतीं, फ़िल्म बनाना कितने झंझट और ख़तरे का काम है। फ़िल्म फ़्लॉप हुई नहीं कि सबका बेड़ा ग़र्क !"

"कहानी तुम खोज लो। जो काम मेरे लायक़ होगा, मैं कर दूँगी। क्या करूँ, ड्रामों में उसका कुछ बन नहीं पा रहा है !" गहरी निराशा के भाव झलक आये उसके चेहरे पर।

"तुम 'वरी' क्यों करती हो ?" सहानुभूति जतलाता हुआ कुमार बोला, "तुम्हारा थोड़ा सा कोऑपरेशन मिले तो सब कुछ हो सकता है..."

उसी दिन कुमार ने वसुधा के साथ बैठकर सारी योजना तैयार कर ली। निश्चय हुआ कि पहली तारीख़ को वह कुमार के साथ बम्बई जायेगी···। और कंचन को भी साथ ले जायेगी।

फिर महीनों तक कुमार वसुधा को मन चाहे ढंग से घुमाता-फिराता रहा। वसुधा चाहकर भी मना न कर सकी। दो बार उसके साथ अकेले भी बम्बई हो आई थी। एक बार पूना भी।

पर फ़िल्म का काम अभी शुरू नहीं हुआ था। केवल कुछ प्रारम्भिक तैयारियाँ ही हो पायी थीं, इतनी भाग-दौड़ के बाद।

कभी-कभी तो वसुधा को अब रात को लौटने में काफ़ी विलम्ब हो जाता।

लेकिन धीरे-धीरे कुमार में परिवर्तन आने लगा था। वसुधा की अपेक्षा अब वह कंचन को अधिक साथ लिये सिने निर्माताओं और फ़ाइ-नेन्सरों के यहाँ घूमता। कंचन छाया की तरह दिन-रात उसके साथ लगी रहती। नैय्यर परिवार से प्रताड़ित होने के बाद अब उसमें प्रतिशोध की भावना जगने लगी थी। फ़िल्म की जब से बातें चलीं, उसमें एकाएक एक

बदलाव आ गया था। इसके लिए वह अब सब कुछ दाँव पर लगा देने के लिए उतारू थी।

कुमार के पास अभी इतना पैसा था नहीं कि ज़रूरी कामों के अलावा कहीं और भी कुछ ख़र्च कर सकता। इसलिए उसने कंचन को पहले ही बता दिया था कि जब तक फ़िल्म पूरी नहीं हो जाती, वह उसे एक पैसा भी नहीं दे सकेगा। अभी तो हज़ारों ज़रूरी-ज़रूरी ख़र्चे सिर पर थे, जिन्हें पूरा किये बिना एक भी क़दम आगे बढ़ पाना सम्भव न था।

पिछला क़र्ज़ा अभी सिर से पूरा उतरा न था कि वसुधा नये ऋण की खोज में पड़ी। कंचन के लिए नयी साड़ियां चाहिए। कंचन को बम्बई जाना है। उसके ख़र्च की व्यवस्था करनी है। सैकड़ों रुपये उसके साज-सिंगार का सामान जुटाने में लग गये।

आठ-नौ महीने इसी तरह बीते कि कुमार की बदली बम्बई हो गयी। बम्बई में और भी कुछ काम मिल गया तो उसने फ़र्म की पुरानी नौकरी छोड़ दी।

कंचन भी उसी के साथ बम्बई चली गयी। नयी बनने वाली कुछ दूसरी फ़िल्मों से भी उसके अनुबन्ध होने की सम्भावना थी।

और एक दिन कुमार के निर्देशन में बनने वाली फ़िल्म का 'मुहूरत' हुआ और तेज़ी से काम चल पड़ा।
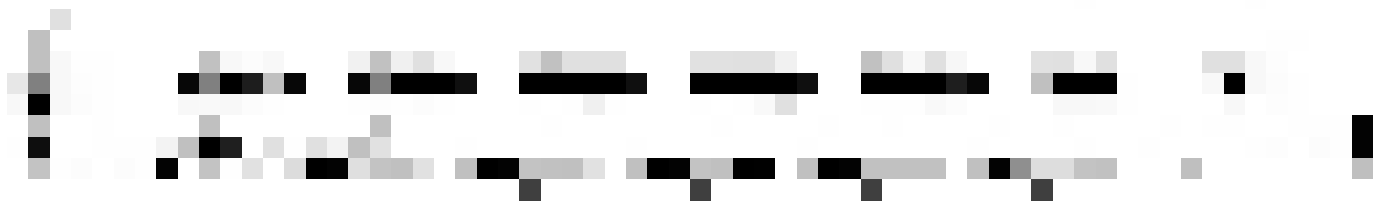
तेरह

वसुधा की वही रोज़मर्रा की ज़िन्दगी थी। ऑफ़िस का बोझ, घर की चिन्ता, जीवन में कोई रस ही नहीं रह गया था। लेकिन पत्र-पत्रिकाओं के फ़िल्मी कॉलमों में कभी कंचन के चित्र देखती तो उसे अपार हर्ष होता। तब वह अपनी तमाम निजी चिन्ताओं को भूल जाती। उसे लगता, जीवन इतना निरर्थक नहीं, जितना वह समझ बैठी है।

इस बार वह मद्रास के लम्बे टूर से लौटी। बड़ा व्यस्त कार्यक्रम था। तीन हफ़्ते का काम पन्द्रह दिन में पूरा कर दिया था उसने। डायरेक्टर सरीन ख़ुश था। उसकी चुस्ती की जब-तब सराहना कर दिया करता था—उसे ख़ुश करने के लिए।

कोई जलूस निकल रहा था, शायद इसलिए मेन रोड का ट्रैफ़िक रोक दिया गया था। वह डबल-स्टोरीवाले क्वार्टरों से स्कूटर घुमाती हुई महल्ले में पहुँची तो अपने घर के आँगन में घिरी भीड़ देखकर उसका कलेजा धक् से रह गया!

पास जाकर देखा—मीचे रो रहा है। सामने ज़मीन पर सफ़ेद चादर में लिपटी पिता की लाश पड़ी थी।

"की होया मीचे?"

"पाप्पाजी गुज़र गये...!" मीचे फफक पड़ा।

धीरे-धीरे उसने बताया, "मैं फुफ्फड़ जी के साथ बुलन्दशहर बिट्टे के मुण्डन में गया था। सुबह जाकर शाम को लौट आना था, पर वहाँ मेरी तबीयत बिगड़ गयी। दो दिन अस्पताल में भी रहा...। आज सुबह

लौटा तो पाप्पाजी का शव देखा...!"

"चाईजी कित्थे हैं ? ते दादीजी..."

"वह करौलबाग़ गयी थीं, आपके जाने के एक दिन बाद, अबतक वहां से लौटीं नहीं।"

"जाते समय पास-पड़ोस में किसी से कह तो जाता...!"

"चरनी से कह गया था, वह शायद भूल गयी !"

माथा थामकर बैठ गयी वसुधा।

यह सब क्या हो गया, उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। हड्डियों का पिंजर पड़ा था, खुले में। तमाम बदबू आ रही थी। पड़े-पड़े सड़ गया था शव।

खुले मुंह पर तमाम मक्खियाँ भिनभिना रही थीं।

वसुधा ने चादर से ऊपर तक ढँक दिया। महल्लेवालों की मदद से किसी तरह शाम तक दाह किया जा सका।

● ●

भाँय-भाँय करता घर अब काट खाने को दौड़ता।

पिता की मृत्यु निश्चित थी, लेकिन इस तरह से यह सब हो जायेगा, इसकी कभी कल्पना भी न की थी वसुधा ने।

ऊपर उनकी चारपाई अब तक वैसी ही पड़ी थी। सुराही का पानी सूख गया था। बीड़ी का टूटा बण्डल सिरहाने से नीचे गिर गया था। पास ही सूखी थाली पड़ी थी, जूठी।

माँ रात को लौटी देर से। उसके चेहरे पर कोई भी प्रतिक्रिया न थी।

"अखीर ओहनां ने जी के की करना सी...?" बुदबुदाकर वह चुप हो गयी।

"जी के हमको ही कौन-सा पहाड़ तोड़ना है चाईजी ? लेकिन जिस तरह यह मौत हुई, उसके बारे में सोचते ही मेरा तो कलेजा काँप-काँप उठता है...। किसी से कुछ कह भी तो नहीं सकते ! लोग क्या सोचेंगे ?"

उस रात किसी से पानी तक पीते नहीं बना। जल्दी से रोशनी बुझाकर सब पड़ गये, जैसे-तैसे। वसुधा को रह-रहकर धक् से लगता, पिता का साया आज सचमुच सिर से उठ गया और हम लोग अनाथ हो गये !
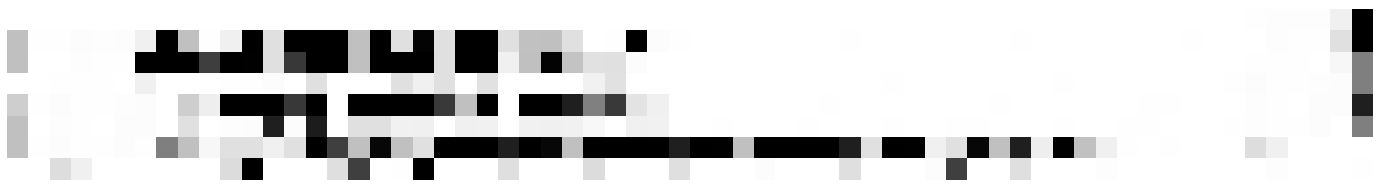
चौदह

कंचन को सामने अब एक नया संसार लगा। पति द्वारा अपमानित होने के बाद जीने की लालसा समाप्त हो चुकी थी। चारों ओर उसे निराशा ही निराशा, दुख ही दुख, अँधेरा ही अँधेरा दीखता था। लेकिन अब उसे लगता कि वह अँधेरा उजाले की शक्ल लेता जा रहा है। भीतर बसी गहरी हीनता की भावना धीरे-धीरे तिरोहित होती चली जा रही है। प्रतिकार का सन्तोष निरन्तर उसे आगे को धकेल रहा है।

हर प्रश्न पर उसने अब नये सिरे से सोचना आरम्भ कर दिया था। अपने निरर्थक जीवन में सार्थकता की सिद्धि के लिए उसने वज्र-संकल्प ले लिया था। ज़िन्दगी के रास्ते में सम्भावित झंझाओं का दृढ़ता से सामना करने की अद्‌भुत शक्ति उसमें आ गयी थी।

वह अब एक और ही कंचन थी, मर जाने के बाद जिसका पुनर्जन्म हुआ था। उसकी एक ही आकांक्षा थी। नैय्यर परिवारवालों ने उसके घर की दयनीय स्थिति के कारण जिस तरह तुच्छ समझकर उसे घर से निकाल दिया था, वह एक-दूसरे धरातल पर उसका बदला लेना चाहती थी।

कुमार अब तक सन्दिग्ध था कि फ़िल्म में अभिनय वह कर भी पायेगी या नहीं। उसके लिए फ़िल्म का असफल होना आत्मघात से भी भयंकर था। किसी भी क़ीमत पर वह यह बाज़ी हारना नहीं चाहता था।

कंचन के इस आकस्मिक परिवर्तन पर उसे सुखद आश्चर्य हो रहा था। लग रहा था कि शायद फ़िल्म की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय इसी को जायेगा।

कंचन काम में ऐसी डूबी रहती कि उसे समय का ध्यान ही न रहता। घण्टों-घण्टों अभिनय का अभ्यास करती। अपने पात्रों के साथ बातें करती, लड़ती-झगड़ती। दिन-रात जैसे उन्हीं का जीवन जीती। कहानी की नायिका बिन्दिया की भूमिका में ऐसी रमी वह कि स्वयं को ही बिन्दिया समझने लगी थी। वही बोली, वैसी ही चाल-ढाल, उसी का खान-पान, रहन-सहन—सब कुछ वैसा ही।

उसे इसकी सुध ही न थी कि घर में क्या हो रहा है? किस तरह वसुधा अपने दिन बिता रही है? कैसी उसकी स्थिति होगी?

एक-दो नयी फ़िल्में मिल गयी थीं उसे, पर उनसे अभी पैसा इतना नहीं मिल पाता था कि वह बम्बई-जैसे शहर में आवश्यक सुविधाओं को जुटा सकती। अब तक फ़िल्म-सम्बन्धी सारे काम अधूरे थे। इसलिए नाम-मात्र के पैसे का भी जुगाड़ सम्भव नहीं होता था। अतः जब-तब उसे ख़र्च के लिए वसुधा को लिखना पड़ता।

वसुधा पता नहीं कहाँ-कहाँ से उसके लिए जुटाकर पैसे भेजती। उसे लगता—सिनेमा के मायावी संसार में वह सफल हो गयी तो जीवन की सारी समस्याओं के हल अनायास निकल पड़ेंगे। धन होगा, रूप होगा, यौवन होगा तो वह कहीं भी मनपसन्द जगह विवाह करके सुखी जीवन बिता सकेगी। जिन्दगी में जितनी यातनाएँ अर्थाभाव के कारण उसने सहीं, उन सबसे मुक्ति मिल जायेगी।

इसलिए जानबूझकर अपने पत्रों में वह घर की संकट-भरी स्थिति का ज़िक्र नहीं करती थी। व्यर्थ की चिन्ता से लाभ भी क्या था? जो कुछ हो सकता था, अपने सीमित साधनों के सहारे वह कर ही रही थी।

कुमार इस बीच दो-तीन बार दिल्ली आया लेकिन उससे मिला नहीं। उलटे वसुधा ने फ़ोन किया तो उसने कहला दिया कि इस समय होटल में नहीं है।

जो कुमार बरसों तक उसके पीछे पागल हुआ भागता फिरता था, अब वह मुड़कर भी देखने को तैयार न था! कंचन से ज्यों-ज्यों उसका परिचय बढ़ा, त्यों-त्यों वसुधा से वह दूर होता चला गया था।

पर इसमें भी वसुधा ने अपमानित होने के बावजूद रंचमात्र भी बुरा
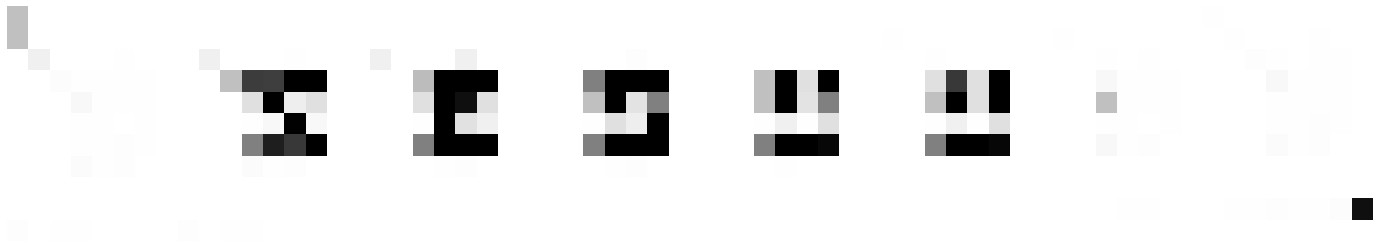
न माना। शायद वह यही चाहती थी। उसके अवचेतन में सम्भवतः ऐसा ही कुछ रहा था।

कंचन की सफलता को सम्भवतः उसने कहीं अपरोक्ष में अपनी ही सफलता मान लिया था। कंचन में कहीं पर उसने अपना ही प्रतिबिम्ब खोज लिया था। इसीलिए उसे लगता—सफलता की ऊँची-ऊँची गगन-चुम्बी सीढ़ियों की दिशा में कंचन नहीं, वह स्वयं बढ़ रही है...।

पर कंचन घर को एक तरह से बिलकुल बिसरा चुकी थी।

पिता की मृत्यु का समाचार उसे मिल गया था, लेकिन उसने प्रत्युत्तर में एक पत्र तक भेजने की औपचारिकता नहीं निभायी। कभी भूल से ही यह भी पूछने की आवश्यकता न समझी थी कि अब-तक जो रुपये वसुधा भेजती है, उन्हें किस तरह से कैसे वह जुटाती है।

वसुधा की दिन-रात की मेहनत के बाद, जितनी आमदनी थी, ख़र्चा उससे कहीं अधिक हो रहा था।

आये दिन की इन्हीं परेशानियों में बुरी तरह उलझी रहती थी वह। हरदम खोयी-खोयी-सी।

न उसे अपने रख-रखाव की सुधि थी, न कपड़े-लत्ते, खाने-पीने की ही ख़बर! ऑफ़िस के बाद भी वह ढेर सारे पार्ट-टाइम काम किया करती।

घर में पिता की जगह अन्धी दादी ने ले ली थी। माँ का रुझान अब पूजा-पाठ की ओर बढ़ने लगा था। 'सुमरनी' हाथ में लिये वह घण्टों तक आँखें मूँदे, ध्यान की मुद्रा में बैठी रहती।

मीचे की पढ़ाई पिता की चिरन्तन रुग्णता के कारण कभी भी नियमित रूप से न चल पायी थी। पढ़ने में वह बुरा न था, लेकिन पढ़ने का समय मिले तब न! वह बराबर ही असफल होता रहा तो माँ ने उसकी भी व्यवस्था करवा दी। राजौरी गार्डनवाले फुफ्फड़जी के कुछ ट्रक थे। रोड़ी-बजरी का ठेका था। ट्रकों के भरान और उतरान की गिनती के काम पर उन्होंने मीचे को रख लिया था। खाने-पीने के अलावा जेब-ख़र्च भी कुछ दे दिया करते थे। उन्होंने आश्वासन दिया था कि थोड़ा-बहुत काम-कूम सीख लेने के बाद वह उसे बाक़ायदा 'मुन्सी' के पद पर आसीन करवा देंगे।

वसुधा ने बहुत मना किया। पढ़ता-लिखता तो कुछ ज़िन्दगी बनती, अब यों ट्रकों पर बैठा घूमता-फिरेगा! ड्राइवरों के 'सत्संग' में रहकर किसी दिन कौली-करछी बेच आये तो आश्चर्य नहीं!

लेकिन माँ मानी न थीं।

● ●

पिता की मृत्यु के बाद एक और तूफ़ान खड़ा हो गया था अब!

स्वर्गीय लाला बिशनदास की सम्पत्ति के सहसा कई उत्तराधिकारी बन गये थे। सबके अलग-अलग दावे और अलग-अलग वक्तव्य थे। लाजपतनगर की यह कॉलनी जब बसी तब कोई भला-मानुस इस ओर झाँकता तक न था। दिल्ली का एक उपेक्षित किनारा, उस पर शरणार्थियों की बस्ती!

लेकिन जब से ग्रेटर कैलाश, सूरज पर्वत बसे, इसका महत्त्व हज़ार गुना बढ़ गया था। दस-दस हज़ार के मकान अब लाख-लाख के हो गये थे।

फिर बिशनदास के रिश्तेदारों का गिद्धों की तरह घिर आना स्वाभाविक था। उनकी पहली पत्नी ने पलवल के पास किसी छोटे-से क़स्बे से, अदालत के मार्फ़त नोटिस भिजवा दिया था। और इसके प्रमाण प्रस्तुत किये थे कि स्वर्गीय लालाजी की शादीशुदा पत्नी वही है। दूसरा विवाह उन्होंने कभी किया ही नहीं। हाँ, कोई अपनेआप आकर उनके घर रहने लगी हो तो वह और बात है!

बाद में सचमुच एक दिन वह चली आयी थी—तीन बच्चों को साथ लेकर। दहाड़ मारकर रोती हुई बोली थी, "दस्सो, इन नियाणिया दा की होयेगा?"

आश्चर्य से सब देखते रह गये।

पास-पड़ोस के लोगों ने कहा कि लाला की पहली पत्नी तो एक ही महीने बाद अपने पूर्व-प्रेमी के साथ ही अन्तर्ध्यान हो गयी थी, फिर ये तीन बच्चे कहाँ से? कैसे?

इस आरोप पर वह सचमुच बिफर पड़ी, "मैं भागी नहीं थी मुहजरी,
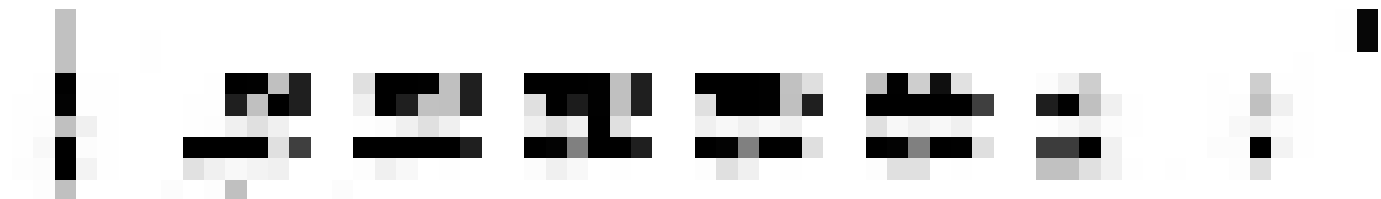
अपने मैके गयी थी। लालाजी ने ही ख़ुद भेजा था ताकि मैं वहाँ अपने बूढ़े माँ-बाप की कुछ सेवा कर सकूँ। रोहणपुर कौन दूर है यहाँ से ! लालाजी वहाँ महीने में दो-दो बार आते थे। पूछ लो किसी से। सारी दिल्ली को पता है। सब जानते हैं।"

रोज़-रोज़ के इन झगड़ों में ख़ून-ख़राबे की स्थिति आ गयी तो वसुधा परेशान हो उठी। उनके बनावटी रिश्तेदारों को तो उसने दो टूक जवाब दे दिया था, लेकिन लालाजी की पूर्व पत्नी का उसने जो क़िस्सा सुना, उससे उसका दिल दहल उठा था। किसीने बताया था कि बूढ़ा बाप जवान बेटी को अपने घर पर रखकर 'धन्धा' करवाता है। यह बेचारी कई बार इधर-उधर भागी, पर वह फिर-फिर पकड़ लाता है। बुरी तरह डण्डों से मारता-पीटता है। लड़की इस दोज़ख़ से निकलकर त्राण पाना चाहती है। बच्चे छोटे-छोटे हैं। आमदनी का कोई भी ज़रिया नहीं।

"तुम अपने बच्चों के साथ इधर आ जाओ और निश्चिन्त होकर रहो। हम कहीं और मकान ले लेंगे, किराये पर...!" वसुधा ने एक दिन उसे बुलाकर कहा, "एक कमरा, एक रसोई अपने लिए रख लो, शेष को किराये पर चढ़ा दो। किराये से इतना पैसा तुम्हें मिलता रहेगा कि तुम आराम से अपने छोटे-छोटे बच्चों की परवरिश कर सको...!"

"फिर आप लोग कहाँ जायेंगे ?" आँखों में कृतज्ञता के आँसू थे। यह सब हो सकता है—उसकी कल्पना से परे की बात थी।

यों ही हँस पड़ी वसुधा, विवश-भाव से, "अरी हमारा क्या है ! कहीं भी सिर छिपाने को जगह मिल जायेगी। मैं ख़ुद नौकरी करती हूँ। ऐसी कोई बड़ी समस्या नहीं...!"

परिचित-मित्रों के, हितचिन्तक रिश्तेदारों के विरोध के बावजूद, सब से लड़-झगड़कर वसुधा ने मकान खाली करवा दिया, और उसी बस्ती के आख़िरी सिरे पर एक छोटा-सा घर किराये पर ले लिया।

जगह यहाँ पर उतनी न थी। लेकिन किसी तरह गुज़ारा करना था। अधिक अच्छे मकान के लिए अधिक किराया चुका पाने की सामर्थ्य भी तो न रही थी।
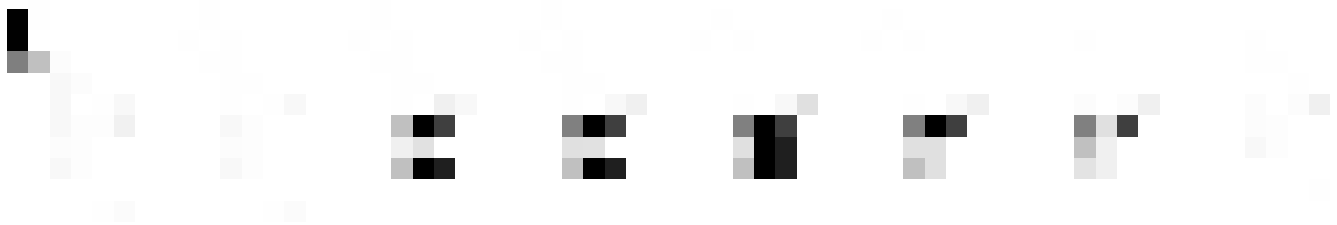
पन्द्रह

सरीन के जाने के बाद ऑफ़िस का सारा वातावरण सहसा बदल गया था। ऑफ़िस कनॉट प्लेस से 'शिफ़्ट' होकर कर्जन रोड पर आ गया था।

सरीन के बदले पी. आर. आनन्द आया था। यह बड़ा ही विलासी व्यक्ति था। इसलिए ऑफ़िस में 'परमानन्द' के नाम से विख्यात हो गया था। कुछ ही दिनों में उसकी 'ख्याति' दूर-दूर तक फैल गयी थी।

यों दिल से बुरा न था, पर स्वभाव का 'झक्की' था। बिना बात ऑफ़िस में बात का बतंगड़ बनाये रखता—एक अजीब क़िस्म के तनाव का वातावरण।

ऐसा कोई दिन न होता जब वसुधा को बिना किसी ग़लती के एक-दो बार झाड़ न खानी पड़ती हो। उस पर बॉस का उन्मुक्त जीवन! जब जी चाहा बुला लिया।

ऑफ़िस में भी बेहद काम। घर में भी फ़ाइलें मँगवाकर आधी-आधी रात तक वह डिक्टेशन दिया करता था।

सुबह वसुधा से बिस्तर पर से उठा न जाता। कितनी बार निश्चय किया कि इस नौकरी को छोड़ दे। लेकिन किस भरोसे? कैसे? सूझता न था।

सोचती थी—कंचन का ही कुछ बन गया तो वह सारे झंझट छोड़ देगी। क़र्ज़ से मुक्त होकर किसी आश्रम में चली जायेगी। लेकिन अभी इसके लिए लम्बा अन्तराल था। कब, क्या होगा—सब

अनिश्चित था।

एक दिन बहुत परेशान होकर कंचो को उसने बड़ा लम्बा पत्र लिखा—अपनी मानसिक एवं शारीरिक स्थिति के बारे में, घर की हालत के बारे में और अपना इरादा भी बतला दिया अन्त में कि वह अब नौकरी नहीं करना चाहती, यानी कि कर पाने की स्थिति में नहीं है...।

पत्र लिफ़ाफ़े में डालकर पता लिख दिया और बन्द करके अपने पर्स में रख लिया।

बहुत दिनों तक वह पत्र उसके साथ-साथ घूमता रहा और आख़िर में एक दिन उसने स्वयं ही फाड़कर फेंक दिया।

कंचन को कुछ परेशानी हो, उसके काम पर असर पड़े, यह कैसे होने देगी वह !

दो-तीन दिन वह अस्वस्थता के कारण ऑफ़िस न जा सकी थी। बुख़ार से तपती घर में ही पड़ी रही थी। बिस्तर पर पड़े-पड़े पता नहीं वह क्या-क्या ऊल-जलूल बातें सोचती रहती थी !

देवेन की इस विक्षिप्तता की अवस्था में उसने न जाने कितने पत्र लिखे थे ! लेकिन सब को लिख-लिखकर फाड़ती रही थी।

पैसे का अभाव भी अब बुरी तरह चुभने लगा था। तीन-चौथाई वेतन घर तक पहुँच ही न पाता था। उस पर भी कंचन रुपये मँगाने से अब भी बाज़ न आती थी। यूनिट के साथ कश्मीर जाना है। जयपुर में भी आउट-डोर शूटिंग का कार्यक्रम है। कुछ नये कपड़े बनवाने हैं। सब अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर जायेंगे, कुछ ढंग के उसे भी चाहिए...।

वसुधा भूखी रहकर, फटे-पुराने कपड़े पहनकर भी उसे ख़र्चा भेजती रहती। पहले प्रायः रोज़ साड़ियाँ बदलती थी, लेकिन अब दो-तीन ही साड़ियों में महीना गुज़ार देती।

घर का ख़र्चा भी अब बहुत सीमित कर दिया था। रोज़ दो रोटियाँ बनाकर ऑफ़िस ले जाती—'लंच' पूरा हो जाता।

उस पर आनन्द टोकता रहता कि तुम मॉडर्न बनकर, स्मार्ट बनकर ऑफ़िस क्यों नहीं आतीं ? इस तरह से ऑफ़िस का डिसिप्लिन बिगड़ रहा है।
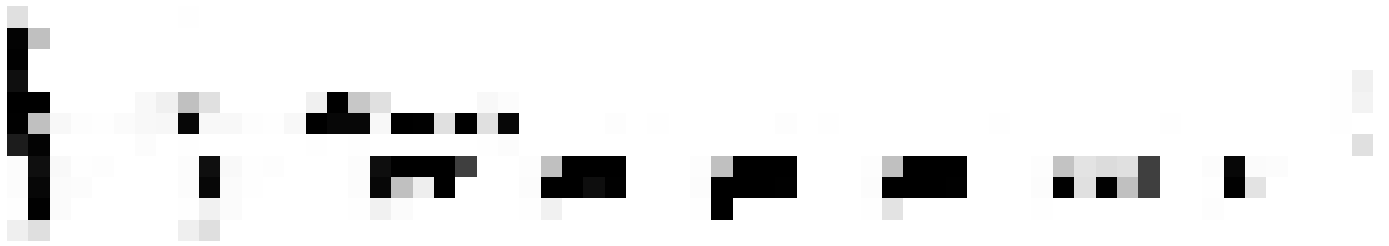
कुछ दिन काम पर जाने के बाद वसुधा फिर बीमार पड़ी और फिर महीनों तक उठ न पायी।

ऑफ़िस से वेतन मिलना भी अब बन्द हो गया था। वसुधा के स्थान पर अस्थायी रूप से किसी और कन्या की नियुक्ति कर दी गयी थी।

मीचे ने कंचन को तीन-चार पत्र भेजे, लेकिन एक का भी उत्तर न मिला।

गरमी के उमस-भरे दिन थे। घर में केवल एक टेबलफ़ैन था, जो कभी-कभी झटके मारा करता था। माँ उसे उठाती-रखती कई बार मरती-मरती बची थी। मरम्मत कौन करवाता? सुबह अँधेरे-मुँह घर से निकलने के बाद रात को ग्यारह से पहले मीचे घर न आ पाता था। दादी थी अन्धी। पूजा-पाठ में लीन माँ एक तरह से घर में ही संन्यासिनी हो गयी थी।

कलकत्ता से लौटते हुए एक दिन देवेन आया। वसुधा को देखा तो विस्मय से देखता रह गया—आँखों पर गड्ढे उभर आये हैं। बिखरी हुई लट में कोई-कोई सफ़ेद बाल झाँक रहे हैं। शरीर एकदम गिर चुका है। नाख़ूनों का रंग तक सफ़ेद हो आया है...।

वसुधा की सूनी-सूनी आँखों में कोई भी भाव नहीं था!

चारपाई की पाटी पर अपराधी की तरह देवेन हौले-से बैठ गया।

"एक दिन तुम्हारा यही हाल होना है, मैं जानता था। तब तुम न मानी न!" यों ही बुदबुदाया देवेन।

छत की ओर देखती रही वसुधा।

"यह मकान तो बहुत छोटा है! कैसे रहते हो तुम लोग?"

"...!"

"पंखा और नहीं? यहाँ तो बड़ी घुटन होती होगी?"

इस बार भी चुप रही वसुधा।

उसके सूखे हाथों को, तपते माथे को देवेन सहलाता रहा चुपचाप।

"बीमार कब से हो?"

"अब तो काफ़ी दिन हो गये...!"

"मुझे इन्फ़ॉर्म तो कर देतीं! डायरेक्ट डायल सिस्टम है। कभी भी
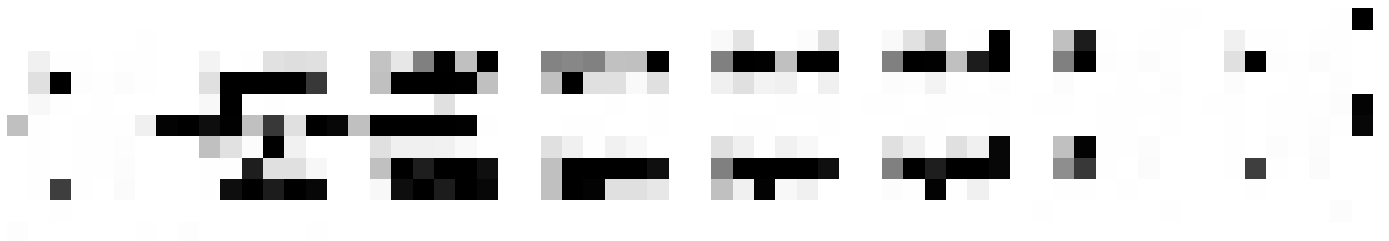
रिंग कर सकती थीं !"

फिर कुछ देर गुमसुम बैठा रहा देवेन। शून्य दृष्टि से कमरे में इधर-उधर देखता रहा, "वसु, इस घर में कैसे रहती हो तुम ? क्रॉस-वेण्टिलेशन नहीं ! यहीं पर सोना, यहीं बैठना, यहीं पर खाना बनाना...!"

"किराया कितना बढ़ गया अब दिल्ली में, तुम्हें क्या मालूम ? इतना छोटा कमरा भी मिल जाना कम नहीं ?" वसुधा खोयी-खोयी बोली।

"पर 'पे' तो तुम्हें अब काफ़ी मिलती होगी...!"

कुछ कहने के लिए वसुधा के सूखे, पपड़ी-लगे होठ खुले, पर फिर भिच आये।

"डॉक्टर को दिखलाया ?" उसे जैसे सहसा कुछ याद आ पड़ा।

"दिखाया तो था एक बार...।"

"क्या कहता था ?" जिज्ञासा से देवेन ने देखा।

"क्या कहता था—कुछ भी तो नहीं !" वसुधा अपनी रौ में बहती हुई बोलती चली गयी, "ब्लड नहीं बनता...। फल खाया करो। ख़ुश रहा करो। टॉनिक हर रोज लिया करो। इन्जेक्शन लगवाओ...!" और फिर वह व्यंग्य-भाव से देखती हुई यों ही निर्जीव मुसकान होठों पर बिखेरती बोली, "मेरा अब इन बातों में विश्वास नहीं रहा देवेन ! पता नहीं क्यों जीने की आकांक्षा ही मर चुकी है...!"

"ऐसा नहीं कहते ! बीमारी, कष्ट, अभाव लगा रहता है। यों हिम्मत हारने से हो जायेगा सब कुछ ?" उसके रूखे-बिखरे बालों को देवेन सहलाता रहा, "अब भी क्या बिगड़ा है ? किसी अच्छे अस्पताल में दिखला लेते हैं !

"मुझे कहीं नहीं दिखाना। जब मैं जीना ही नहीं चाहती तब तुम्हारे बड़े-बड़े एक्सपर्ट डॉक्टर क्या कर लेंगे ?" गहरी निराशा, अथाह दुःख उसके मुरझाये चेहरे से रह-रहकर झाँक रहा था।

"मुझे सब मृगमृष्णा-सा लगता है देवेन। जब भी आँखें मूँदती हूँ—चारों ओर अपार अथाह रेत ही रेत फैली दीखती है। गगनचुम्बी लपटों से घिरी, जलती रेत ! तब पता नहीं क्यों मेरे पाँव बिस्तर पर पड़े-पड़े जलने-से लगते हैं। मैं चीख़ पड़ती हूँ...!" वसुधा-जैसे स्वयं को सुना रही हो, इस तरह बहकी-बहकी-सी बोल रही थी।
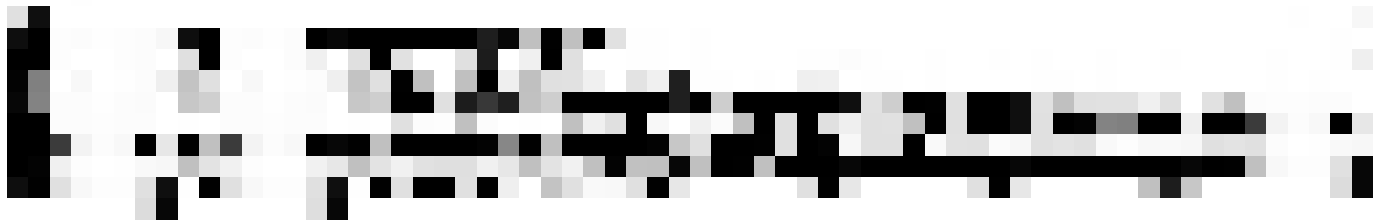
उसकी देह पर एक मैली-सी झीनी चादर पड़ी थी। घरघराता पंखा गरम हवा उगल रहा था।

"तुम क्यों चिन्ता में पड़ गये?" वसुधा ने अपना काँपता हुआ हाथ उसकी ओर बढ़ाया, "तुम पामिस्ट्री नहीं जानते न! देखो, भाग्य और उम्र की रेखाएँ ही नहीं हैं!" अपनी सूखी, सफ़ेद हथेली खोली उसने, "पता नहीं देवेन, अब तक मैं किसके भाग्य से जी रही थी! इतनी ज़िन्दगी जी लेना भी कुछ कम है!"

देवेन ने उसके होंठों पर हाथ रख दिया, "बस, बस यों बोले ही जाओगी? ऐसा क्या हुआ, जो यों हिम्मत हार गयीं?" तनिक तुनककर कहा उसने, "बीमार कौन नहीं होता? कैसी बहकी-बहकी-सी, बेसिर-पैर की बातें कर रही हो आज!"

वसुधा की सूखी-सूखी आँखों में जल भर आया और वह करवट बदलकर लेट गयी, "मुझे पता था, एक दिन तुम भूल से यहाँ आ पड़ोगे और यही सब कहोगे! मैं जानती थी...!"

उसी समय देवेन एक अच्छे-से डॉक्टर को बुला लाया। उसने एक्स-रे तथा ब्लड-टेस्ट आदि का सुझाव दिया।

दो-तीन दिन तक उसका इलाज चलता रहा। हालत में सुधार न दीखा तो देवेन मेडिकल इन्स्टीट्यूट ले गया एक दिन।

दो हफ़्ते की जाँच-परख के बाद डॉक्टर ने जो रिपोर्ट दी, उसे सुनकर वह सुन्न रह गया!

उसके चेहरे का रंग सफ़ेद पड़ गया! बेंच पर बैठा तो उससे फिर उठा ही न गया।

वैसा ही थका-हारा लौटा तो वसुधा ने पूछा, "रिपोर्ट मिली? क्या कहा डॉक्टर ने?"

पहले तो देवेन को कुछ सूझा नहीं कि क्या उत्तर दे, फिर सोचता हुआ बोला, "कोई ख़ास नहीं बतलाया..."

"फिर भी?"

"बस्स, यही कि आराम की सख़्त ज़रूरत है। क्लाइमेट चेन्ज करो। ऐसी ही कुछ और...!"

वसुधा ने अकारण मुसकराने का प्रयास किया, "मैं तो पहले ही जानती थी कि...!"

"क्या ? क्या जानती थी ?"

वसुधा ने कोई उत्तर न दिया। फिर उसके क्लान्त चेहरे की ओर देखती हुई बोली, "बहुत थके-थके लगते हो देवेन! आराम से बैठ जाओ न !"

देवेन अब तक दरवाज़े पर खड़ा था। हाथों में फलों के लिफ़ाफ़े थे। उन्हें रखता हुआ, माथे का पसीना पोंछने लगा।

"बड़ी गरमी है! पानी पियोगे ?" वह सुराही की ओर लेटे-लेटे ही हाथों से टटोलती हुई लपकने लगी तो झट आगे बढ़कर देवेन ने उसे रोक लिया, "क्या कर रही हो ? मैं ख़ुद पी लूँगा...!"

और पास रखे गिलास में पानी उड़ेलकर वह पीने लगा।

"गरम होगा न !"

"नहीं, ठीक है।" रूमाल से गीले होठ पोंछता हुआ चारपाई पर ही बैठ गया।

वसुधा की देह पसीने से नहायी हुई थी। ब्लाउज चिपका हुआ था। तमाम चादर भीगी हुई थी, जैसे पानी गिर गया हो !

देवेन ने पंखे का मुँह वसुधा की ओर कर दिया, "इस भयंकर गरमी में तो तन्दुरुस्त आदमी भी बीमार पड़ जाये !" देवेन इस तरह से बड़-बड़ाया, जैसे स्वयं से बातें कर रहा हो।

कुछ देर बैठा तो चैन मिला नहीं। बार-बार उसकी निगाहें वसुधा की आकृति पर अटक आती थीं। सामने दीवार पर इसी वर्ष का कैलेण्डर टँगा था। उस ओर देखता हुआ देवेन पता नहीं क्या-क्या जोड़ता-घटाता रहा, मन-ही-मन !

उसने उसी दिन चण्डीगढ़ फ़ोन कर दिया कि वह कुछ दिनों बाद लौटेगा घर।

● ●

शाम को देवेन बहुत देर बाद लौटा। माँ भोजन बनाये बैठी थी।

"खाना तो एक फ्रैण्ड के यहाँ खा चुका बिब्बीजी ! लेकिन मुझे आपसे कुछ बातें करनी थीं...!" देवेन बाहर सड़क पर बिछी चारपाइयों के पास आया और पसीने से भीगी क़मीज़ उतारता हुआ बैठ गया।

भोजन के बर्तन यों ही जल्दी-जल्दी ढक-ढकाकर माँ आयी और पास ही सामने रखी चारपाई पर बैठ गयी।

धीरे-धीरे, बहुत धीमी आवाज़ में देवेन कुछ कहता रहा और माँ निरन्तर रोती रही। अपने फटे दुपट्टे से आँसू पोंछती हुई बोली, "तो कंचो को ही बुला दो...!"

"कंचो भी क्या करेगी आकर ? उससे क्या होगा ?"

माँ का हृदय डूब आया। पाँवों तले धरती काँपने लगी। आँखों के आगे, झीना-झीना काला धुन्ध-सा छाने लगा। अपने जीवन में इतनी बेचैनी का अहसास आज तक कभी हुआ न था। जो कुछ वह सुन रही थी, जो कुछ कहा जा रहा था, सच न लग रहा था। यह सब होगा ! नहीं, नहीं ! वह कराह उठी।

"तो क्या कुछ भी इलाज नहीं हो सकता अब ?" माँ के काँपते अधर अनायास खुल पड़े। मुट्ठी में दबा दुपट्टे का किनारा हवा में उड़ रहा था। माथे पर रूखे बालों की लट बिखर आयी थी और वह निर्निमेष सामने देख रही थी।

देवेन उसी तरह ठगा-ठगा-सा बैठा रहा, जैसे कहीं गहरे में डूब गया हो। फिर हौले से पाँवों को दूर तक फैलाता हुआ, जम्हाई लेकर बोला, "पहले पता चल जाता तो शायद कुछ सम्भव था, लेकिन डॉक्टर कहते हैं कि अब वक़्त बहुत बीत चुका, इसलिए चान्स नहीं रहे। यों उन्होंने ढेर सारी दवाएँ लिख दी हैं, आगे भगवान की मरजी...!"

देर तक दोनों चुप रहे। पास ही गन्दी नाली में घुसा कुत्ता चप्-चप् कुछ चबा रहा था।

"मेरे पास और कुछ नहीं, थोड़े-से गहने हैं, विवाह के साल लाला जी ने बनवाये थे...!" माँ अधीर होकर रो पड़ी।

"आप चिन्ता क्यों करती हैं बिब्बीजी ! खर्च की कमी के कारण इलाज नहीं रुकेगा ! सब हो जायेगा !" देवेन उठकर अन्दर चला गया।
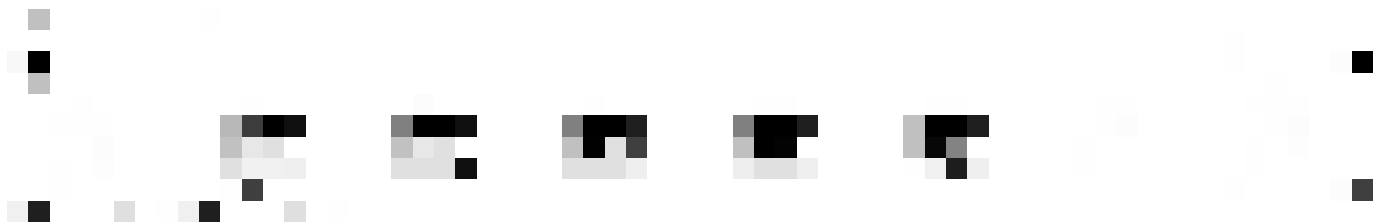
वसुधा की पलकें पीली, धुँधली, पलस्तर उखड़ी, दीवार पर चिपकी थीं।

"खाना लिया कुछ ?" बहुत पास जाकर धीरे-से उसने पूछा। वसुधा के बाल तकिये के पीछे नीचे झूल रहे थे। उन्हें सहेजकर ऊपर कर दिया।

"सूप लिया था...!" वसुधा वैसे ही दीवार की ओर अब भी ताक रही थी।

सिरहाने के पास केवल टिकने-भर की ठौर थी। देवेन वहीं बैठ गया, "दर्द तो नहीं उठा न आज ?"

"न्नां !"

"फ़ीवर कितना रहा ?" उसकी कलाई थामकर वैद्य की तरह नाड़ी देखता रहा। फिर माथे पर हाथ फेरा। पसीने से माथे पर बाल चिपके हुए थे।

"कुछ कम ही रहा—नॉर्मल...!"

"मेरी एक बात मानोगी वसु...!" उसके माथे को सहलाते हुए बड़े स्नेह से बोला देवेन। फिर उसके चेहरे के क़रीब कुछ और झुक आया—सूनी बड़ी-बड़ी आँखें, मुरझाये होठ और पीले चेहरे की ओर ताकता रहा।

हौले-से इस बार मुड़ी वसुधा। उसकी आँखों में आँखें डालकर कुछ खोजने की कोशिश की उसने, "तुम्हारी कौन-सी बात नहीं मानी..."

"हूँ !" बड़े विचित्र ढंग से देवेन ने मुसकराने की चेष्टा की, "मेरी एक भी बात कभी मानी होती, तो आज तुम्हारी यह दशा न होती...!" कहते-कहते देवेन चुप हो गया। उसे लगा, इस समय ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी।

माथे को वह उसी तरह सहलाता रहा चुपचाप।

"यहाँ पड़ी-पड़ी ऊब गयी होगी न ! कितनी उमस है ! दिन-भर तुम्हारा कमरा भट्टी की तरह तपता रहता है। डॉक्टर ने कहा है—तुम्हारे लिए जरूरी है कि कुछ दिनों के लिए कहीं बाहर चली चलो...!"

"कहाँ ?" वसुधा ने वैसे ही पूछा।

"तुम्हें याद है, पापा के कमरे में हिमालय का एक कितना बड़ा

कैलेण्डर लटका रहता था—रंग-बिरंगा ! किसी विदेशी फ़र्म का। जब भी तुम घर आती थीं, वह कैलेण्डर देखती थीं, कहती थीं—एक बार तुम्हारे साथ इन पहाड़ों को देखने की इच्छा है देवेन !...वसुधा, अब चलो न ?"...देवेन सहसा बहुत भावुक हो आया।

वसुधा की बड़ी-बड़ी आँखें अपने आप खुल आयीं।

"कुछ दिनों के लिए शिमला चलो !" देवेन ने भावुकता का टूटता बाँध रोककर, संयत स्वर में कहा, "आबहवा के बदलाव से तुम्हारी सेहत में काफ़ी सुधार होगा।"

वसुधा उसी तरह गुमसुम देखती रही—निर्निमेष।

"शिमला पसन्द नहीं तो कहीं और चलो—मसूरी, नैनीताल, जहाँ चाहो। मुझे कुछ काम से यू. पी. जाना था। हो सका तो उसे भी कर लूँगा !"

वस्तुतः कोई काम उधर न था देवेन को, वह उसका मन रखने के लिए कह रहा है—वसुधा समझ रही थी !

उसकी खुली हथेली पर वसुधा ने धीरे-से अपना हाथ रखा और फिर माथा टिका दिया।

हथेली पर गरम-गरम जल की बूँदों के स्पर्श से देवेन सिहर उठा, "च्च, तू रो रही है वसु !"

सोलह

करवटें बदलते सारी रात बीत गयी। सड़क की पीली-पीली उदास बत्ती जल रही थी। उसके चारों ओर मरे हुए मच्छरों का काला गुच्छा पड़ा था—बल्ब को चारों ओर से ढके शीशे के आवरण के भीतर। और इधर-उधर से अनगिनत पतंगे रात-भर मँडराते रहे थे।

इतना घोर संकट माँ ने कभी अनुभव नहीं किया था। वसुधा से पहले एक और बच्चा हुआ था, लाहौर में। जब वह गुज़रा, तब भी माँ को ऐसा ही कुछ लगा था। ऐसी ही असह्य बेचैनी और घुटन! कुछ ही दिन बाद वह दम तोड़कर चल बसा था।

जब मन बहुत परेशान हो जाता और कहीं कोई किनारा न सूझता, माँ तब आँखें मींचे चुपचाप जाप करने लगती।

सुबह उठते ही माँ, नहा-धोकर सीधी मन्दिर गयी और प्रसाद लाकर ज़बर्दस्ती वसुधा को खिलाया।

फिर बाहर बैठकर, मीचे से पत्र लिखवाने लगी—कंची के लिए। बस्सो बहुत बीमार है। डॉक्टरों ने कोई ख़राब 'बिमारी' बतलायी है। कहते हैं अब कुछ दिनों से अधिक बचेगी नहीं। तुम फ़ौरन चली आओ...!

खाना बनाने लगी तो मन लगा नहीं। यह सब किसके लिए बना रही हूँ। क्यों बना रही हूँ? बना हुआ कौन खायेगा?

आटा सानते हुए उसमें आँसू की बूँदें टपक पड़तीं और आँखों में अँधेरा छा जाता।

देवेन सुबह कह गया था कि वह दोपहर तक लौट आयेगा। सम्भव

हुआ तो नैनीताल के लिए आज ही चल पड़ेंगे। ट्रंक कॉल से उसने बात कर ली है। शायद ठहरने की व्यवस्था वहाँ आसानी से हो जायेगी।... वसुधा को दर्द उठे तो डॉ. घोष को बुलाकर 'पैथेडीन' का इन्जेक्शन लगवा लेना।

दोपहर हो गयी थी और वह अब तक आया न था!

वसुधा वैसी ही लेटी थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि देवेन यह सब क्या कर रहा है! पता नहीं क्यों, कहीं भी जाने का मन न था उसका। उसे स्वयं इस बात का आभास हो चुका था कि वह अब अधिक जीयेगी नहीं। देवेन जब रात को बाहर बैठा माँ से बातें कर रहा था और जब माँ अपनी गीली आँखें पोंछती कमरे से होकर रसोई घर की ओर जा रही थी—वह तभी समझ चुकी थी।

रूबी देर तक उसकी गोद में बैठी रही। देवेन एक बार कहीं से दो पिल्ले ख़रीदकर लाया था। एक यहाँ छोड़ गया, दूसरा अपने साथ चण्डीगढ़ ले गया था।

बचपन से ही पिल्ले उसे बहुत अच्छे लगते थे। इसीलिए उसने माँग लिया था। यों देवेन एक पिल्ले को यहाँ छोड़ने के ही इरादे से लाया था।

बॉनी रूबी कल तक इस समय बाहर चहल-क़दमी किया करती थी, पर आज न जाने क्यों चुपचाप बैठी रही! वसुधा उसके घने बालों को सहलाती रही।

लगभग दो बजे कनॉट प्लेस से लौटा देवेन। स्कूटर में काफ़ी सामान था। दवाओं के पैकेट थे। नयी अटैची थी। नया बिस्तरबन्द था। कुछ नयी चादरें और वसुधा के लिए नयी साड़ियाँ थीं।

"यह सब क्या लाये? तुम्हें क्या हो गया, देवेन!" वसुधा ने सहज अचरज से कहा, "कितनी चीज़ें उठा लाये? फ़िज़ूल में पैसे बरबाद करने का रोग है न!"

देवेन सिर से पाँवों तक पसीने से नहाया हुआ था। गीली बुश्शर्ट उतार कर खूँटी पर टाँगता हुआ बोला, "मुझे पैसे बरबाद करने का रोग हो या न हो, लेकिन तुम्हारे चीख़ने-चिल्लाने की आदत कभी जायेगी नहीं।"

देवेन ने उसके माथे पर हाथ लगाया, "बुख़ार तो नहीं आया न?"

वसुधा ने सिर हिलाया, "अभी तक तो नहीं आया, लेकिन तुम्हारी इन हरकतों को देखकर आ जाये तो आश्चर्य नहीं !"

वसुधा के मुरझाये होठों पर पता नहीं आज कितने दिनों बाद मुसकान आयी थी !

देवेन देखता रहा उसकी ओर ।

फिर रसोई घर में जाकर बोला, "बिब्बीजी, इसका हाथ-मुँह तो धुलवा देतीं ! बुखार नहीं है तो हाथ-मुँह धोने में हर्ज नहीं !"

"काके, इसे तो पता नहीं क्या हो गया है ? जब से बिस्तर पर पड़ी है, इसने हाथ-पाँव ही छोड़ दिये हैं ।"

माँ उलाहने में इतना कह गयी लेकिन परात लेकर हाथ-मुँह धोने लगी तो पलकों पर रुका आँसुओं का बाँध न रोक पायी ।

काठ-सी सूखी, पतली कलाइयों को वह देखती रही ।

"दो-तिन्न महीनियां विच बस्सो, ऐह की हाल कर लेया ए तैनें···तैनूँ की होया ए...?"

माँ की आँखें झरती रहीं ।

आज न मूँग की खिचड़ी बनायी, न सूप ही तैयार किया । बस्सो को कढ़ी-चावल बहुत पसन्द थे । माँ ने ज़िद करके वही बनाये ।

पर वसुधा एक-दो कौर से अधिक न खा सकी ।

शाम को दौरा पड़ा तो वह तड़पती-छटपटाती हुई चीख़-चीख़ पड़ी । सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया । नींद के इन्जेक्शन तथा कुछ और दवाएँ देने के बाद धीरे-धीरे पीड़ा कम होने लगी । घायल मरणासन्न चिड़िया के फड़फड़ाते पंख जिस तरह धीरे-धीरे सिमटने लगते हैं उसी तरह वह भी निढाल होकर पड़ गयी ।

सारा शरीर पीला पड़ गया था । हिलने-डुलने की भी शक्ति शेष न रही थी, जैसे बरसों से बीमार हो ।

शाम को उसने पलकें खोलीं तो उससे बोला तक नहीं जा रहा था ।

"ऐसा पहले भी होता था ?" देवेन ने माँ से पूछा ।

माँ माथे पर हाथ रखे पता नहीं किस दुनिया में भटक रही थी । कुछ क्षणों का मौन तोड़ती हुई बोली, "होता तो पहले भी था, लेकिन इता

ज्यादा नहीं। तब देर-सवेर अपने आप ठीक हो जाता था...।"

"किसी अच्छे डॉक्टर को नहीं दिखलाया होगा...?" देवेन दरवाज़े पर खड़ा हो गया। वहाँ हवा कुछ अधिक आ रही थी।

"इस रोग में ऐसा ही होता है...।" पास ही रखी टूटी कुरसी पर वह गिरता हुआ, मन ही मन बुदबुदाया।
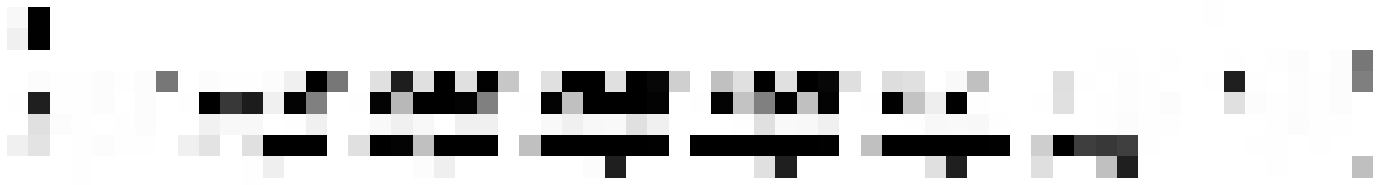
सत्रह

चिड़ियों का झुण्ड कहीं आसमान में उड़ रहा था। पास ही दूध के डिपो की खिड़की के नीचे बोतलों की क़तार लगी थी। डिपो अभी खुला न था, न दूध की गाड़ी ही आयी थी, लेकिन मधुमक्खी के छत्ते की तरह लोग इकट्ठा होने लगे थे। रात के ही पहने, सिलवट पड़े कपड़े, उनींदी आँखें, हाथ में धात का टोकन और मुट्ठी में भिंचे पैसे।

स्कूटर सड़क पर घरघराने लगे थे।

टैक्सी दरवाज़े पर खड़ी थी।

मीचे सामान रख रहा था।

माँ वसुधा को सहारा देकर टैक्सी में बिठला रही थी।

टैक्सी के पहिए घूमने लगे तो माँ फफककर रोने लगी।

सजल नेत्रों से मीचे देखता रहा और रूबी टैक्सी के पीछे-पीछे बेतहाशा भागती रही!

अठारह

"सो गयीं ?"

"नहीं।"

"तो आँखें क्यों बन्द किये हो ?"

"यों ही...कुछ सोच रही थी..."

"क्या ?"

"कुछ नहीं...!" उसने हँसने का प्रयास किया और मुँदी पलकेंखोल दीं, "क्या कह रहे थे ?"

"बाहर देखो न ! कितना अच्छा लग रहा है। दूर तक खेत ही खेत ! उधर देखो, अमराई के उस पार—मालगाड़ी छुक-छुक करती हुई, आसमान में धुएँ की लकीर-सी बनाती कितनी अच्छी लग रही है !"

वसुधा ने देखा—वास्तव में बहुत अच्छा लग रहा था दृश्य ! बगुले जैसे कुछ पक्षी पास ही खेतों में कतार लगाये कुछ चुग रहे थे।

वसुधा का गला सूख रहा था। हापुड़ में थर्मस ख़रीदकर देवेन ने ठण्डा पानी भरवा लिया। गढ़गंगा के पास टैक्सी रुकवाकर वह नीचे उतर पड़ा।

"थोड़ा रेस्ट कर लें—दो मिनट ?" कहकर वसुधा को भी उतार लिया उसने।

गंगा का दर्पण-सा स्वच्छ जल बर्फ़ पिघलने के कारण मटमैला हो गया था। दोनों किनारे लबालब ठण्डे जल से भरे थे। कुछ लोग नावों पर बैठे पार जा रहे थे। गँदला पानी धूप से सोने की तरह जगमगा रहा था।
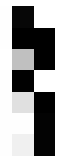
उसे सहारा देकर, देवेन किनारे पर ले गया।

ठण्डी रेत में कुछ देर बैठने के बाद हाथ-मुँह धोकर वे ऊपर आये।

"बर्फ़ का जैसा पानी है...!" वसुधा साड़ी पर लगे रेत के कण झाड़ने लगी।

"बर्फ़ का जैसा नहीं, बर्फ़ का ही पानी है।" देवेन उसकी ओर देखता हुआ बोला, "तुम ठीक होती तो मैं तुम्हें बीच धार में ले जाकर डुबकी लगवा देता। तुम्हारा ही नहीं, तुम्हारे सारे खानदान का सात पीढ़ियों का पाप धुल जाता!"

अबोध नन्ही बच्ची की तरह खिलखिला पड़ी वसुधा।

"सच्च, जिन्दगी में पहली बार मैंने तुम्हें यों खिलखिलाती हुई देखा है।...तुम हँसती हो तो कितनी अच्छी लगती हो?" शरारत से देवेन कह ही रहा था कि वसुधा ने उसकी पीठ पर हलकी-सी धौल जमा दी।

टैक्सी में बैठकर देवेन उसका हाथ सहलाता रहा, देर तक, "दुखने लगा होगा न हाथ!"

वसुधा उसके कन्धे पर आँखें मूँदे गिर पड़ी।

कब कौन-सा क़स्बा कहाँ छूट गया, उसे फिर सुध न रही।

मुरादाबाद में लगभग एक घण्टा विश्राम कर वे फिर चल पड़े।

●●

दूर तक बाँहें फैलाये हरी झील के किनारे पहुँचे तो साँझ हो रही थी। पानी हरे रंग का वार्निश-जैसा लग रहा था, लेकिन कहीं-कहीं पर सिन्दूर-सा बिखरा पड़ा था। सामने वाला पूरा पहाड़ पानी पर समाया हुआ था। रंग-बिरंगे मकान और देवदार, बांज के हरे-भरे वृक्ष पानी की सतह पर तैरते साफ़ दीख रहे थे।

इस लम्बी यात्रा से वसुधा बुरी तरह थक गयी थी। खड़ी होती तो पाँव काँपने लगते। मई-जून के महीने में भी सरदी लग रही थी।

ठहरने की व्यवस्था पहले ही देवेन कर चुका था। इसलिए होटल में पहुँचते ही बिस्तर पर टूटी टहनी की तरह गिर पड़ी वसुधा।

नींद की एक झपकी आने के बाद वह जगी। उसी तरह बिछौने पर
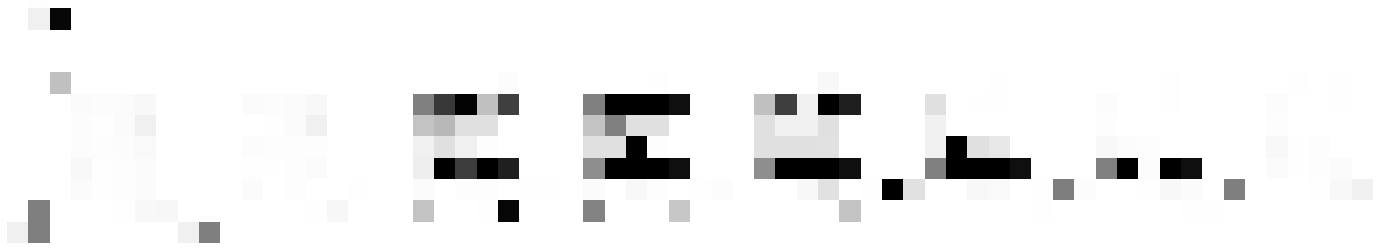
पड़ी-पड़ी न मालूम क्या-क्या सोचती रही ! उसको घर की याद आयी। देर तक रूबी का ख़याल आता रहा। बार-बार चारपाई पर कूदकर फिर ठुम-ठुम नीचे दौड़ती होगी। माँ में अब कितना परिवर्तन आ गया है ! दिन-रात पूजा-पाठ में लगी रहती है।...जब वह यहाँ के लिए रवाना हुई तब घर में एक भी दाना राशन का न था। दुकानदार का पिछला ही उधार अभी चुकाना है, उसने पिछले हफ़्ते ही मीचे को जवाब दे दिया था। फिर वे लोग क्या खा रहे होंगे ?

माँ ने करोलबाग वाले अंकल से क़रीब-क़रीब सारे सम्बन्ध समेट लिये थे। पर माँ को अब फिर जाना पड़ा होगा—उनके दरवाज़े पर हाथ पसारने। अंकल अच्छे आदमी नहीं। सभी रिश्तेदारों में उनकी बदनामी के क़िस्से फैलाते रहते हैं...।

रात घिर आयी थी। कमरे में अँधियारा था। तभी देवेन डॉक्टर को साथ लेकर आया।

देवेन ने रोशनी जलाकर चादर हटायी, "कैसी है तबीयत ?"

"ठीक है...।" बुझी-बुझी आवाज़ में वसुधा ने उत्तर दिया।

"तुम्हारा चेहरा बहुत उतरा हुआ लग रहा है।" देवेन ने चेहरे पर परेशानी का भाव लाते हुए कहा।

"लम्बी जर्नी से होगा।" डॉक्टर पॉल बोले।

अच्छी तरह जाँच करने के बाद काग़ज़ पर कुछ दवाएँ लिखकर वह चले गये।

"क्या यहाँ अच्छा नहीं लग रहा तुम्हें ?" देवेन उसके पास कुरसी खींचकर बैठ गया।

"क्यों, बहुत अच्छा लग रहा है...!"

"फिर उदास क्यों हो ? खोयी-खोयी-सी हर समय क्या ऊल-जलूल सोचती रहती हो ?"

"कुछ तो नहीं सोच रही, आप यों ही कहते रहते हैं ?" तुनककर वसुधा ने कहा तो देवेन ठहाका लगाकर हँस पड़ा, "खूब रही यह भी ! हम 'आप' कब से हो गये मैडम ?" वह फिर हँसने लगा।

"यों ही निकल गया होगा मुँह से !" वसुधा चिढ़ती हुई बोली और
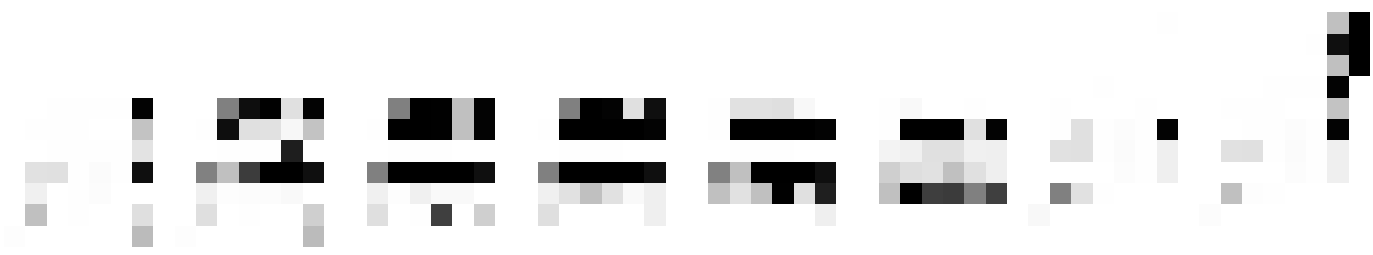
स्वयं भी हँसने का जैसा अभिनय करने लगी।

"घर की याद तो नहीं आ रही ?" कुछ रुककर देवेन ने पूछा।

"न्न !"

"फ़ीवर-जैसा लग रहा है क्या ?"

"नहीं, कुछ थकान ही है...।"

देवेन ने खिड़की खोल दी। खिड़की तालाब की तरफ़ खुलती थी। पानी पर बिजली की रंग-बिरंगी बत्तियों का जगमगाता प्रकाश बहुत अच्छा लग रहा था। कुछ देर खिड़की के पल्लों को पकड़े हुए वह देखता रहा। फिर वसुधा की ओर मुँह कर बोला, "तुम इधर बैठो। चेयर यहाँ लगा देता हूँ। जब जी में आये मुझसे बातें करना, मन भर जाये तो उसे रीता करने के लिए लेक की ओर देखना...।" वह हँस पड़ा।

वसुधा को वहाँ पर बिठलाकर देवेन सामान ख़रीदने मार्केट चला गया।

सारा कमरा वसुधा को फिर ख़ाली-ख़ाली लगने लगा। कभी वह खिड़की से बाहर झाँकती, कभी कमरे के अन्दर की चीज़ों को देखती। उसकी बीमारी ख़तरनाक है, यह वह जान चुकी थी। लेकिन है क्या ? देवेन क्यों नहीं बतलाता, उसको समझ में न आ पाता था।

रात को देवेन ढेर सारे ताज़े-ताज़े फल लेकर लौटा। सीढ़ियों से ही शोर मचाता हुआ आया, "बस्सू, देख, कल से फलों की दूकान खोलेंगे यहाँ ! कितने फल लाया हूँ..."

और सारी मेज़ फलों से भर गयी।

"यह क्या सूझा तुम्हें ?" वसुधा नाराज़ होती हुई बोली, "इतने रुपये बेकार करने से क्या फ़ायदा हुआ ? बताओ कौन खायेगा इन्हें ?"

"क्यों ? क्यों ?" वह शरारत से उसी तरह देखता रहा, "मिस्टर 'आप' का जिसे ऑर्डर होगा उसे खाना पड़ेगा।"

"हद्द हो गयी !" वसुधा का हाथ अपने कपाल तक गया, "कोई महीने-भर में भी क्या इतने फल खा सकता है !"

"यह दिल्ली नहीं, नैनीताल है मैडम ! यहाँ हमारा हुक्म चलेगा। इतने-इतने फल तुम्हें रोज़ खाने पड़ेंगे...।" उसने अजीब-सा चेहरा बनाया।
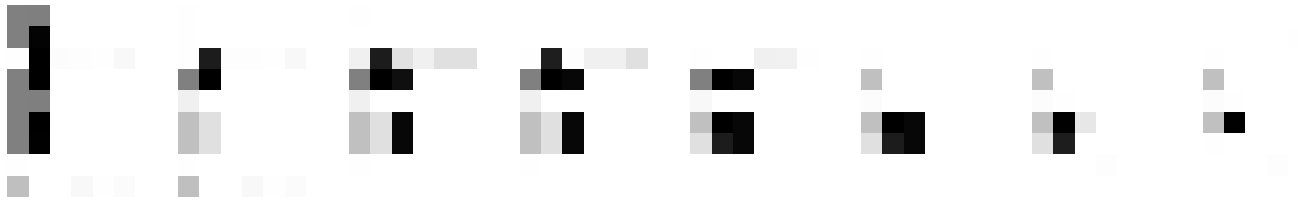
तो वसुधा अपनी हँसी रोक न पायी ।

एक छोटा-सा टुकड़ा लेने मात्र से उसका पेट भर गया, लेकिन आँखें शायद अब तक भरी न थीं । बार-बार वह फलों के ढेर की ओर देखती ।

• •

सुबह उठी तो चेहरा भारी लगता था ।

"कल मैंने एक अजीब सपना देखा, देवेन !"

देवेन उसी के बिस्तर पर पालथी मारे बैठा, कोई बासी अख़बार पढ़ रहा था । अख़बार से नज़रें ऊपर उठाकर उसने देखा, "कैसा सपना...?"

"बड़ा विचित्र था सच्ची ! मैं तो अब तक हैरान हूँ कि ऐसा भी कहीं सपना हो सकता है ?"

"या क्या ? कुछ बोलोगी या यों ही सस्पैन्स बनाये रखोगी ?" तुनककर देवेन ने कहा ।

"मैं...ने...देखा," वसुधा ने अटक-अटककर कहा, "कि मैं मर गयी हूँ । दूर खड़ी मैं अपनी लाश की ओर देख रही हूँ । सफ़ेद चादर शरीर पर पड़ी है । तुम पास खड़े रो रहे हो...।"

इससे आगे देवेन सुन न पाया, "बस, बस ! क्या ऊट-पटाँग बातें करती हो ! वहम का भी कहीं कोई इलाज होता है ! कोई आदमी कहीं अपनी ही लाश देख सकता है ?...तुम भी क्या बातें करती हो वसुधा ! लगता है तुम्हें 'मेनिया' हो गया है !" देवेन चुप हो गया ।

वसुधा ने अख़बार छिटककर दूर फेंक दिया और उसकी गोद में मुँह छिपाकर लेट गयी ।

देवेन उसके बालों को अँगुलियों की कंघी से चुपचाप सहलाता रहा ।

कुछ समय बाद उसने वसुधा का सिर ऊपर उठाया तो सारा चेहरा आँसुओं से भीगा था ।

"अरे, यह क्या ?" देवेन ने आश्चर्य से देखा, "तुम्हें क्या हो गया वसु ?"

"यह जानती कि तुम्हारा मुझ पर इतना भी 'फ़ेथ' नहीं, तो कभी भी यहाँ नहीं आती देवेन...!" वह उसी तरह रोती रही ।
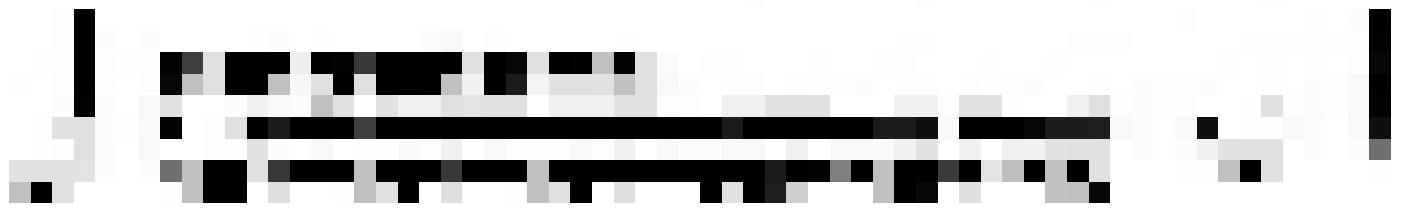
"क्यों ? क्यों ?...?"

"क्यों क्या ! विश्वास ही होता तो तुम यह क्यों छिपाते कि मुझे क्या बीमारी है...?" आवेश में वसुधा फूट पड़ी।

"इसमें छिपाने की क्या बात है ?" देवेन संयत स्वर में समझाता हुआ बोला, "ऐसी बीमारियाँ आजकल आम हैं। लीवर की ख़राबी से यह सब हो रहा है। ज्यों ही ठीक ढंग से ख़ून बनना शुरू हो जायेगा, तुम्हें दौरे आने बन्द हो जायेंगे। दर्द यहीं पर तो होता है न !" उसकी छाती के किनारे को अँगुली से छूकर देखा।

वसुधा ने आवेश में हाथ छिटक दिया, "झूठ है। बिलकुल झूठ ! ठगते क्यों हो ? मुझे कैन्सर है ! कैन्सर !"

वह दहाड़ मारकर रोने लगी, "मैं नहीं जानती क्या ? मुझे बच्ची समझ रहे हो न ! ये ढेर सारे फल, नयी-नयी साड़ियाँ क्यों ला रहे हो ? यही न कि मैं अब अधिक जीने वाली नहीं हूँ !...देवेन, मुझे चुपचाप मर क्यों नहीं जाने देते...?"

देवेन ने नन्ही बच्ची की तरह पुचकारते हुए उसे बाँहों में भर लिया, "मुझे किसी भी तरह जीने न दोगी तुम...!" उसकी आवाज़ लड़खड़ा आयी, "तुम तो इस यन्त्रणा से एक दिन मुक्त हो जाओगी, लेकिन मेरी पीड़ा का क्या होगा...?"

दूसरे दिन डॉक्टर ने बहुत समझाया वसुधा को कि कैन्सर के मरीज़ भी अब अच्छे हो जाते हैं। मैंने कितने ही रोगियों का इलाज किया है। नैनीताल में ही एक मरीज़ है, मल्लीताल में पिछले पाँच साल से दूकान चला रहा है। बारह-बारह घण्टे काम करता है। तुम शारीरिक रूप से ठीक रहो तो रोग के उपचार में सहायता मिलेगी। बेकार की बातें सोचना छोड़ दो। फिर देखता हूँ तुम कैसे ठीक होकर नहीं जातीं !...लेकिन तुम्हें इसके लिए डॉक्टर को पूरा-पूरा कोऑपरेशन देना होगा...!"

डॉक्टर के लम्बे-चौड़े वक्तव्य का वसुधा पर कुछ क्षण प्रभाव रहा, पर बाद में स्थिति फिर वैसी ही हो रही।

उन्नीस

जब-जब वह उदास रहती है, देवेन का चेहरा भी परेशान नज़र आता है। यही सब सोचकर वसुधा प्रसन्न दीखने का अभिनय-सा करने लगी। अकारण हँसने का प्रयास करती। उसके अधिक खाने से देवेन को ख़ुशी होती है, इसलिए वह न चाहते हुए भी कुछ और भोजन ले लेती। जब वह अच्छे कपड़े पहने सजी-धजी रहती, देवेन के चेहरे पर अनायास मुसकराहट बिखर जाती है। इसलिए वसुधा सजने-सँवरने लगी। देवेन जब घूमने का आग्रह करता तो इच्छा न होने पर भी वह चल पड़ती।

कभी-कभी आवश्यकता न होने के बावजूद वह किसी चीज़ की माँग कर बैठती तो देखती उसे पूरा करने में देवेन को कितनी प्रसन्नता होती है!

देवेन वसुधा को रोज़ नैनादेवी के मन्दिर ले जाता।

"मन्दिर में जाने से बड़ी शान्ति मिलती है मन को! तुम्हें नहीं मिलती वसु?" कभी वह पूछता तो वसुधा हँस पड़ती, "नहीं मिलती होती तो क्यों आती रोज यहाँ तक!"

"तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगता है?" एक दिन माल रोड पर घूमते हुए उसने वसुधा से पूछा।

वसुधा कुछ देर सोचती रही। फिर हँसती हुई बोली, "तुम्हारा साथ...!"

देवेन ने हल्के-से उसकी पीठ पर एक थपत लगायी, "इतनी शरारती भी तुम हो सकती हो, सोचा न था।"
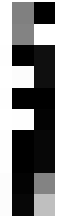
"अब सोच लो ! क्या फ़र्क़ पड़ता है ?" वसुधा बोली।

और दोनों खिलखिलाकर हँसते रहे।

● ●

यह हँसी बहुत महँगी पड़ती वसुधा को। ज्यों ही एकान्त आता, चारों ओर की घटनाएँ-सी उमड़ती हुई घेर लेतीं। उसे माँ की याद आती, कंचन की याद आती; और याद आती यह बात कि उसकी जिन्दगी के दिन अब अँगुलियों पर गिनने-भर के रह गये ! वह अधीर हो उठती। आधी-आधी रात को चीख़ पड़ती।

उसे पता था—कैन्सर के रोगी कितने ठीक होते हैं ! इलाज से ही ठीक होने की उम्मीद होती तो देवेन यहाँ क्यों लाता ? वहीं किसी अस्पताल में भरती करवा देता।

जो भी ज़रूरी बातें थीं, चुपके से उन सबको लिखकर, उसने अपनी अटैची में सबसे नीचे छिपा दिया था। ऑफ़िस का हिसाब ! क़र्ज़े का ब्यौरा। माँ के नाम एक लम्बा-सा पत्र। एक पत्र कंचो के लिए। कुछ काग़ज़ देवेन को सम्बोधित थे। जो बात वह मुँह से न कह पाती, उसे उसने लिख दिया था।

"जब भी मैं कहीं से लौटता हूँ, तुम्हारी आँखें लाल दीखती हैं। पलकें सूजी हुईं ! क्या बात है, तुम सहसा इतनी उदास क्यों हो जाती हो ?" देवेन जब-जब पूछता तो वह हँसने का प्रयास करती।

हाथ नचाती हुई कहती, "क्या करूँ ? आपको क्यों ऐसा 'डाउट' रहता है ? मैं तो बिलकुल ठीक थी। सोकर उठी हूँ न, इसलिए पलकें भारी-भारी लगती होंगी...!"

देवेन हँस पड़ता, और किसी दूसरे विषय पर बातें शुरू कर देता।

"कितनी अच्छी है झील ! पानी भी इतना हरा हो सकता है, सच नहीं लगता !" एक दिन ठण्डी-सड़क से जाते हुए वसुधा ने कहा था। उस दिन से देवेन ने सुबह-शाम नाव पर घूमने का नियम-सा बना लिया। हौले-हौले नाव तैरती; वसुधा पानी में हाथ डालकर बुलबुले बनाती रहती। पानी पर झुके वृक्ष, पानी पर तैरते बादल—मुग्ध-भाव से वह देखती
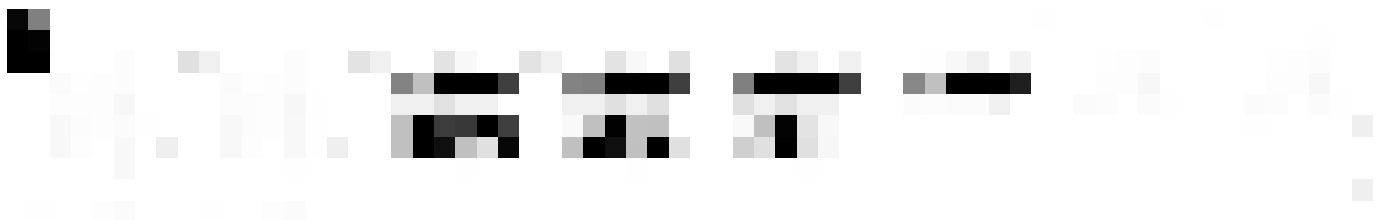
रहती। सोचती जाती—धीरे-धीरे एक दिन वह मौत के साये में हमेशा-हमेशा के लिए ओझल हो जायेगी, लेकिन इन सड़कों की भीड़ वैसी ही रहेगी! वैसी ही तैरती रहेंगी ये नौकाएँ। ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़ इसी तरह खड़े रहेंगे...!"

उसका चेहरा एकाएक उतर आता और पानी पर पड़े अपने ही प्रतिबिम्ब से उसे भय-सा लगने लगा। तब छोटी-सी उस झील का पानी उसे अथाह, अनन्त सागर-सा लगता। ऊँचे आसमान को छूते पहाड़ दानव-जैसे विकराल लगते। और उसे लगने लगता कि उसका दम उखड़ रहा है। साँस रुक रही है। सारा शरीर तिनके की तरह काँप रहा है!

आँखें भींचकर तब घुटनों में सिर गड़ा लेती। देवेन स्नेह से थपथपी देकर जगाता तो वह फटी-फटी डरावनी आँखों से उसकी ओर देखती, जैसे किसी अपरिचित, अनजान को देख रही हो।

"तुम कभी-कभी घबरा-सी क्यों जाती हो? क्या हो पड़ता है तुम्हें?" देवेन पूछता तो वह उसी तरह उसकी ओर देखती हुई हँस पड़ती, "कुछ भी तो नहीं होता देवेन! अपना हाथ लाओ ज़रा, मुझे भय-सा लग रहा है...!"

देवेन उसे बाँह से भींचकर अपने से लगा लेता। उसके कान के पास मुँह ले जाकर पूछता, "वसु, अब तो नहीं लग रहा डर?"

चेहरे पर आया हुआ तनाव ढीला कर वसु बड़ी स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखती और आँखें बन्द कर दुबकी हुई बैठी रहती।

झील का पानी इस समय कुछ-कुछ नीला था। सफ़ेद बादलों के टुकड़े तैर रहे थे। लायब्रेरी बिल्डिंग के पास कुछ दूरी पर बत्तख़ों की कतार बही आ रही थी।

वसुधा अपनी खिड़की पर बैठी कुछ सोच रही थी—झील की ओर देखती हुई—

तब पाकिस्तान नहीं बना था। माँ कहती थी, पिता के पास ख़ूब पैसा था। जमा-जमाया कारोबार। हज़ारों की आमदनी। वह बहुत छोटी थी तब, पिता एक बार कश्मीर ले गये थे। उसे तब की अब कोई याद नहीं—केवल नावें, लम्बी-चौड़ी झीलें और बर्फ़ीले सफ़ेद पहाड़ों की कुछ झल-

कियाँ ही याद के किसी कोने में अब भी धुँधली-धधुँली-सी अंकित थीं...!
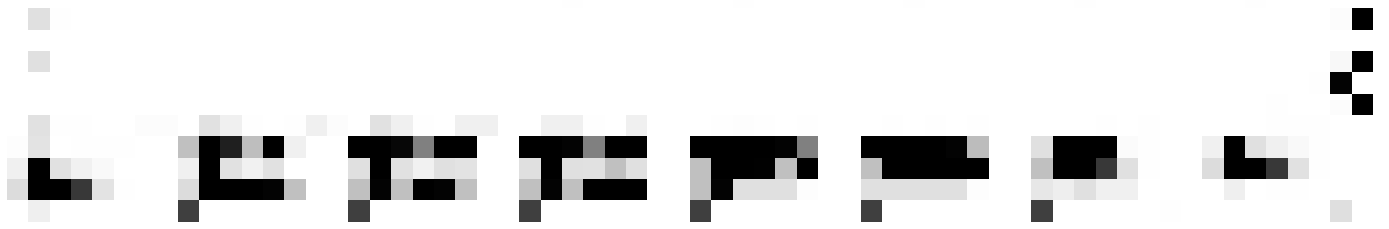
उसे लग रहा था, वे ही धुँधली स्मृतियाँ अब साकार हो रही हैं...!

वह देख रही थी कि तभी देवेन नयी रंगीन साड़ियों का बण्डल लिए हुए आया।

"तुम अब तक अपनी पसन्द की साड़ियाँ पहना करती थीं न ! देखो, आज मैं अपनी पसन्द की लाया हूँ। 'ना' न कहना। मुझे अच्छा नहीं लगेगा। इन्हें पहनकर देखना शीशे में, कितनी अच्छी लगोगी !"

वसुधा ने साड़ियों को उलट-पलटकर देखा। कुछ भी न कहा उसने। कुछ सोचती हुई अपलक देखती रही। आँखें भर आयीं तो उसने झट मुँह फेर लिया, "ज्यों-ज्यों मेरा समय निकट आ रहा है, तुम्हारा स्नेह बढ़ता चला जा रहा है ! इससे मुझे मरने में कष्ट होगा देवेन ! मरते समय मैं सब भूल जाना चाहती हूँ—माँ, बहन, घर, सब कुछ...!"

देवेन वैसा ही कुरसी पर बैठा रहा निढाल। पलकें मूँदे।

वसुधा हौले-से उठी। उसके सिर को सहलाती हुई बोली, "तुम यहाँ क्यों लाये मुझे...! जहाँ इतने लम्बे समय तक न मिले, वहाँ कुछ दिन और रुक जाते। मेरे मरने के बाद आते तो तुम्हें इतना कष्ट न होता। अपना सारा कारोबार, सब कुछ छोड़कर मेरे पीछे कबतक चलते रहोगे ? मुझे तो अधिक जीना नहीं, फिर मुझ पर इतना खर्च क्यों कर रहे हो देवेन, अब मुझे घर ले चलो, घर...!"

उत्तर में देवेन से कुछ भी कहा न गया। नन्हे बच्चे की तरह दुबका हुआ बैठा रहा। कभी उसकी सूखी कलाइयों को थामता। कभी उन्हें सहलाता।

वसुधा ने सभी साड़ियाँ जतन से सिरहाने पर रख दीं।

कुछ देर बाद देवेन बाथरूम में हाथ-मुँह धोकर आया और कुछ ज़रूरी कामों में जुट गया।

वसुधा खिड़की की राह देखती रही—

"वो सामने कौन-सा पहाड़ है देवेन ?" नन्ही बच्ची की-सी सहज जिज्ञासा से उसने देखा।

देवेन उठकर पास आया।
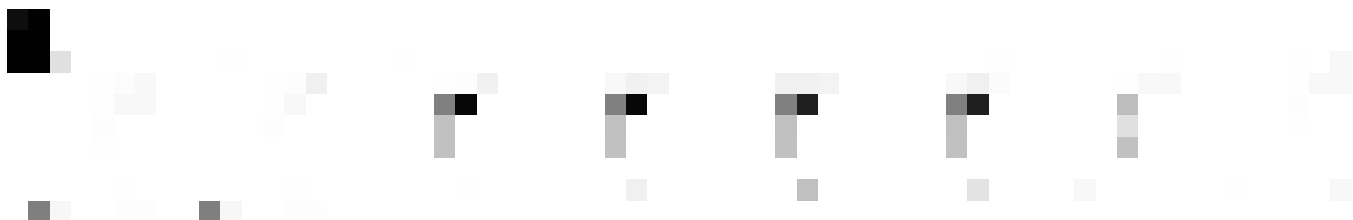
"वो सामने, सबसे ऊँचा..."

"टिफ़िन-टॉप कहते हैं उस चोटी को...!" झुककर देखते हुए देवेन ने उत्तर दिया।

"मुझे वहाँ ले चलोगे ?"

"शाम को चलना। अभी आराम कर लो...!"

वसुधा अभी बात ही कर रही थी कि फिर मरणान्तक पीड़ा आरम्भ हुई। छटपटाती-फड़फड़ाती हुई वह कराह-कराह उठी। उसकी सारी देह ऐंठने लगी। पसीने से भीगा शरीर काँपने लगा।

डॉक्टर के आने तक उसकी आकृति का रंग एकदम सफ़ेद पड़ चुका था।

देवेन के हाथ-पाँव फूलने लगे।

डॉक्टर पॉल ने आते ही इन्जेक्शन दिये। कुछ दवाएँ पिलायीं और फिर आराम से सुला दिया।

"घबराइए नहीं मिस्टर देवेन, कभी-कभी ऐसा हो जाता है। दर्द इस बार कुछ अधिक हुआ लगता है...!"

डॉक्टर के जाने के बाद भी देवेन उसी तरह खड़ा रहा।

वसुधा की हालत रात-भर वैसी ही रही।

सारी रात देवेन ने सिरहाने बैठे गुज़ार दी।

सुबह उसने पलकें खोलीं। उसकी बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों से कल की पीड़ा झाँक रही थी।

"तुम सो जाओ देवेन !" वसुधा के मुरझाये होठों से आवाज़ तक नहीं निकल पा रही थी, "पलकें कैसी बोझिल हो रही हैं तुम्हारी ! सारी रात यों ही बैठे रहे होगे !"

देवेन उठकर उसके पास बैठ गया।

"कुछ और पास आओ न !"

देवेन उससे सटकर बैठ गया। उसके घुटनों में अपना सिर रखकर वसुधा ने पलकें ज़ोर से मींच लीं, "इस तरह बड़ी शान्ति मिलती है ! जी चाहता है, बस इसी तरह पड़ी रहूँ ! देवेन, मरते समय तुम पास होगे न, मुझे बिलकुल कष्ट न होगा। बड़े आराम से मेरे प्राण निकलेंगे। पूर्व

जन्म में पाप ही पाप किये होंगे जिनका फल भुगत रही हूँ ! ...हाँ, भूल से कभी कोई पुण्य भी पड़ा होगा, इसीलिए तो तुम मिले...! तुम्हें अच्छा लगता है न कि मैं हँसूँ ! सच, मैं अब हँसती रहूँगी देवेन !"

वसुधा का स्वर लड़खड़ाने लगा और देवेन छत की ओर डबडबायी आँखों से देखता कुछ खोजता रहा।
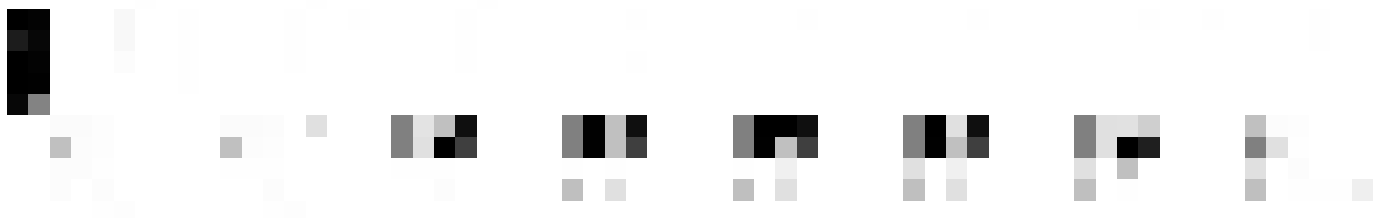
बीस

अब कुछ-कुछ चलने-फिरने लगी थी वसुधा। कमरे में ही कभी थोड़ा-थोड़ा टहल लेती। कल डाँडी पर बैठकर नैना पीक हो आयी थी।

धुँधले, मटमैले, नीले पहाड़—पहाड़ ही पहाड़ ! उस पार सबसे अन्त में, क्षितिज से मिली बर्फ़ीली चोटियाँ चमक रही थीं।

वसुधा देखती रही।

"तुम्हारे यहाँ जो कैलेण्डर टँगा रहता था, उसमें ठीक ऐसे ही पहाड़ थे न ? ऐसी ही चोटियाँ—दूर तक अपनी बाँहें फैलाये !...ये नीली-नीली-सी कितनी पहाड़ियाँ हैं ! इन पर भी क्या यहाँ की तरह लोग रहते होंगे ?"

बच्चों की जैसी उसकी बातें सुनकर देवेन हँस पड़ा, "तुम ठीक होती तो वसु, हम सारी दुनिया देखते। जहाँ-जहाँ तुम कहती, वहाँ-वहाँ चलते...!"

"अधिक लालचिन मैं नहीं देवेन ! इतना ही मुझे मिल गया, बहुत है—बहुत !" उसने जोर से देवेन का हाथ पकड़ा, अपने होठों से लगाया, और फिर उसे यों ही दाँतों के बीच दबाकर काटने लगी।

"कभी-कभी तुम बिलकुल बच्ची बन जाती हो ! पता नहीं क्या-क्या कहती रहती हो ? परसों रात जानती हो तुम क्या कह रही थीं ?"

देवेन हँस पड़ा और वसुधा का चेहरा यों ही सिन्दूरी हो आया !

"यों ही झूठ बोलना तुम्हें अच्छा लगता है ? बताओ, मैंने क्या कहा था ? बाहर खिड़की की राह, छिटकी हुई दूधिया चाँदनी देखकर तुम्हीं
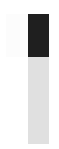
नहीं कह रहे थे...! बता दूँ...?"

देवेन हँसता रहा।

• •

"तुम्हें सबसे अच्छी कौन-सी साड़ी लगती है देवेन ?" वसुधा ने साड़ियों का पैकेट निकालकर कहा।

"जो तुम्हें अच्छी लगती है !"

"नहीं, नहीं, फिर भी !" वसुधा ज़िद करने लगी।

देवेन ने यों ही एक साड़ी की ओर इंगित किया, "यह !"

"यह तो एकदम पिंक कलर की है, शादी में पहनने-जैसी !" वसुधा उसकी तह खोलकर देखने लगी।

"इसे आज पहनो न ! देखना, कितनी अच्छी लगती हो !"

"नहीं, आज नहीं देवेन ! इसे मैं अन्तिम दिन पहनूँगी...!" वसुधा की आँखों पर धुआँ-सा छाने लगा। वह नहीं चाहती थी कि देवेन उसकी मनःस्थिति देखकर दुखी हो। अतः बात बदलती हुई बोली, "तुमने कहा था कि एक दिन उस पहाड़ी पर चलेंगे ! क्या कहा था, उसका नाम, टिफ़िन-विफ़िन-जैसा था न ! क्या वहाँ टिफ़िन बनाकर ले जाना होता है...?"

देवेन मुसकराता हुआ देखता रहा।

वसुधा तैयार होने लगी।

यहाँ आकर देवेन ने उसके लिए नयी घड़ी ख़रीदी थी, हाथों के लिए अलग-अलग रंग की दर्जनों चूड़ियाँ, नयी-नयी सैण्डिलें...!

ड्रेसिंग-रूम को भीतर से बन्द कर वसुधा उन्हें पहनती-पहनती रोती रहती—मुझे यह सब कुछ भी नहीं चाहिए था देवेन ! तुम्हारे पाँवों के पास दो हाथ जगह मिल पाने की भी साध पूरी न कर सकी मैं...! वसुधा बन्द कमरे में अपने आप पागलों की तरह बोलती रहती।

लेकिन बाहर निकलते ही फिर उसी हँसी का अभिनय !

"यों घूरकर क्या देख रहे हो ?"

"बहुत अच्छी लग रही हो...!" देवेन ने उसे बाँहों में जकड़ लिया।

ज्यों-ज्यों दिन पास आ रहे थे, त्यों-त्यों उसका रुग्ण चेहरा एक

अनोखी आभा से भर रहा था। देवेन जानता था, यह कुछ नहीं, बुझते दीपक की लौ है।

उस दिन सचमुच किसी तरह वे टिफ़िन-टॉप पर पहुँच ही गये। वसुधा डाँडी पर गयी थी। इतनी ऊँची चढ़ाई पैदल पार करना उसके लिए असम्भव था।

अबोध बच्ची की तरह कभी तितलियों के पीछे-पीछे भागती वसुधा, कभी जंगली पीले फूलों से अपना जूड़ा सजाती, एक अच्छा-सा फूल उसने देवेन के कॉलर पर टाँक दिया था।

सबसे ऊँचे देवदार के वृक्ष पर चाकू से खोद-खोदकर उसने देवेन का नाम लिख दिया था—

"मेरे मरने के बाद कभी इधर आओगे तो यह नाम इसी तरह लिखा मिलेगा...!"

देवेन घास पर बैठा था, दोनों पाँव पसारे!

वसुधा थक गयी तो उसके घुटनों पर सिर टिकाकर लेट गयी!

● ●

धीरे-धीरे वे नीचे उतर रहे थे कि साँझ घिर आयी थी। पहाड़ों के उस पार से कहीं, थाल-सा पीला-पीला चाँद झाँक रहा था। वृक्षों का रंग, गहरा हरा हो आया था। नीचे 'फ़्लैट' पर चहल-क़दमी करते हुए लोग कीड़ों-जैसे छोटे-छोटे लग रहे थे। पालदार नावें पैंतालीस अंश के कोण में झुकी, एक क़तार की शक्ल में पानी को चीरती हुई आगे बढ़ रही थी। तालाब बहुत छोटा लग रहा था, बित्ते-भर से बड़ा नहीं...!

"पूर्णिमा की रात लगती है आज!" देवेन आकाश पर चढ़ते चाँद को देखता रहा!

"फ़ुल मून के दिन समुद्र में, सुना, ज्वार आता है!" वसुधा ने भी उधर झाँका।

"सुना है कि इस झील में भी उस रात कुछ ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं...!"

वसुधा हँसने लगी।

"तुम झूठ समझ रही हो! कुछ तो असर होता ही होगा!"

फिर चुपचाप वे नीचे उतरते रहे।

कमरे में आकर वसुधा लेट गयी।

कुछ देर अच्छी तरह आराम करने के बाद वह उठी। कपड़े बदले और सज-सँवरकर खिड़की पर बैठी, झील की ओर देखने लगी।

सारा पानी पिघली चाँदी की तरह जगमगा रहा था। छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। दूर कहीं कुछ किश्तियाँ तैर रही थीं। पूरी झील झिलमिल-झिलमिल जगमगा रही थी। चाँद का प्रतिबिम्ब जहाँ पर पड़ रहा था, वहाँ पर हीरे की नग-जैसी असंख्य जल-बिन्दुओं से किरणें-सी फूट रही थीं।

मुग्ध भाव से वसुधा देखती रही—अपलक!

कुछ ही देर पहले देवेन किसी काम से मल्लीताल गया था, अभी लौटा न था।

वसुधा फिर सामने टँगे कैलेण्डर की तारीखें देखने लगी।

कंचन ने एक भी पत्र अब तक नहीं भेजा, इतने दिन हो गये यहाँ आये! माँ ने जो चिट्ठी लिखवायी थी, देवेन ने स्वयं ही पढ़कर फाड़ फेंकी। वसुधा को पढ़ने के लिए भी न दी।

'क्या लिखा था?' वसुधा ने पूछा तो देवेन ने कोई उत्तर न दिया। इस तरह से मुँह बनाया, जैसे कुछ भी विशेष लिखा न हो।

कल 'माल' पर कितनी भीड़ थी! लोग कहते थे, बम्बई से कोई अभिनेत्री आयी है।

देवेन के मुँह के पास अपना मुँह ले जाकर वसुधा ने धीमी आवाज़ में कहा था, "हमारी कंचो कभी यहाँ आयेगी तो देवेन, ऐसी ही भीड़ होगी, देख लेना...!

देवेन ने मुसकराते हुए, चुपके से उसका हाथ ज़ोर से दबाया कि वह चहक उठी थी...!

तभी देवेन आया। उसका चेहरा बहुत परेशान-सा लगता था।

"कहाँ से आये?"

"यों ही मल्लीताल तक चला गया था, डॉक्टर के पास!"

"कोई ख़ास काम था क्या?" वसुधा ने चिन्तित स्वर में पूछा।
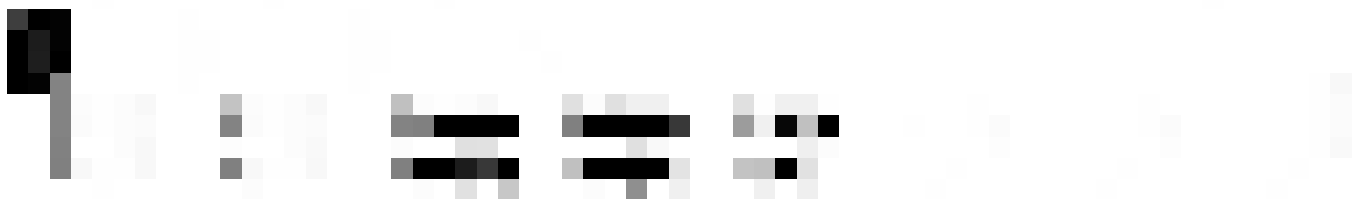
"नहीं, कोई ख़ास नहीं ! नये 'एक्स-रे' की रिपोर्ट देखनी थी...!" लापरवाही से देवेन ने उत्तर दिया।

"कैसी थी...?"

"ठीक थी...! कोई ख़ास चेंज नहीं...!"

वसुधा का मन रखने के लिए ही वह ऐसा कह रहा था। अन्यथा डॉक्टर ने अब कोई उम्मीद नहीं बतायी थी। जो दिन, जो घड़ी बीत जाये वाली स्थिति थी।

"तुम कहीं जाने के लिए तैयार हो...?" चेहरे पर कृत्रिम प्रफुल्लता का भाव लाने का प्रयास किया देवेन ने।

"तुम कह रहे थे न कि तालाब पर आज लहरें उठती हैं...!"

"हाँ-हाँ, चलते हैं अभी...!"

झटपट कुछ खाकर दोनों निकल पड़े।

वसुधा के लिए चलना सम्भव न था, अतः डाँडी की व्यवस्था कर दी।

चाँदी का थाल झील पर पूरा उतर आया था। एक छोटी-सी नाव में दोनों बैठे उस पार कहीं जा रहे थे। वसुधा आज बहुत अधिक बोल रही थी। बिना बात हँस रही थी। तरह-तरह की शरारतें कर रही थी, देवेन किसी तरह साथ निभाने का प्रयास कर रहा था।

वहाँ से लौटते-लौटते उसे फिर बुख़ार की-सी शिकायत अनुभव होने लगी। और कमरे में आकर वह अचेत होकर गिर पड़ी।

इसके बाद फिर न उठ पायी वसुधा। पीड़ा निरन्तर बढ़ती चली जा रही थी। डॉक्टर बार-बार आता, बार-बार चला जाता। और वसुधा छटपटाती-कराहती रहती।

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, उसकी हालत बिगड़ती चली गयी।

डॉक्टरों ने अब तमाम आशा छोड़ दी थी।

"मुझे घर ले चलो देवेन ...!" एक दिन तड़पकर वसुधा ने कहा, "मुझे घर ले चलो...लगता है अब वक़्त आ गया...!" वसुधा बच्चों की तरह सिसक-सिसककर रोने लगी।

देवेन ने अपनी आँखों पर रूमाल रख लिया।

अब यहाँ टिकने का कोई अर्थ न था और न कहीं जाने का ही। फिर

भी वसुधा कह रही थी, इसलिए देवेन ने उसकी अन्तिम इच्छा समझकर चलने की तैयारी कर दी।

• •

टैक्सी झील के किनारे से होकर जा रही थी। वसुधा ने एक बार उझककर देखा तो उसकी आँखों में जल भर आया।

धीरे-धीरे दृश्य बदलने लगे और नैनीताल की दूरी बढ़ती चली गयी।

"अब कहाँ आ गये ?" वसुधा ने करवट बदलते हुए यों ही पूछा।

"हल्द्वानी से आगे...!"

"...!"

"क्यों, क्यों पूछ रही थी...?"

"ऐसे ही...! यहाँ से हरिद्वार कितनी दूर है ?"

"बहुत दूर नहीं !"

वसुधा फिर चुप हो गयी।

"वहाँ से होकर घर जाना चाहती हो ?" देवेन उसकी शिथिल देह को सहलाता हुआ बोला।

वसुधा ने कुछ देर बाद पलकें खोलीं, उनमें स्वीकृति का-सा भाव था।

लेकिन अब उसकी स्थिति बिगड़ती जा रही थी...!

अभी सवेरा हुआ न था। कहीं-कहीं कोई तारे झिलमिला रहे थे। सूनी बस्तियाँ, घने जगलों को चीरती हुई कार बेतहाशा भागी चली जा रही थी। हरिद्वार अभी पन्द्रह-बीस मील दूर था कि वसुधा ने प्राण त्याग दिये !

• •

दुलहन की जैसी जो साड़ी वसुधा ने अन्तिम दिन पहनने के लिए रख छोड़ी थी, देवेन ने उसके शव पर डाल दी।

आग की गगनचुम्बी लपटों की लपलपाती जिह्वाएँ वसुधा की फूल-सी कोमल देह को क्षण-भर में चाट गयीं। और अन्त में रह गयी, केवल मुट्ठी-भर राख !

इक्कीस

कंचन जब घर आयी, वसुधा को मरे तब तीन दिन हो चुके थे।

इन तीन दिनों तक घर में चूल्हा जला न था। न रात को किसी ने बत्ती ही जलायी।

माँ ने रो-रोकर आँखें फोड़ ली थीं। बार-बार उसे बेहोशी के दौरे आते! बस्सो, कहाँ चली गयी---उसकी समझ में न आता था। बार-बार वह दरवाज़े तक जाती, देखती कहीं बस्सो आ तो नहीं रही! कौन जाने देवेन ने झूठ बोला हो!

दुनिया में उसके लिए अब किसी का ईमान रहा न था...!

कंचन की पहली फ़िल्म पूरी हो गयी थी। वह सोचती थी फ़िल्म पूरी होते ही पैसे मिलेंगे, तब वह दीदी का इलाज करायेगी...!

पैसे न थे, इलाज न हो सका, पैसे न थे, कपड़े न बना पाती थी, पैसे न थे इसलिए यहाँ पड़ी रहती थी; पैसे न थे पर उसे हर महीने इत्ते रुपये कैसे भेजती थी? कभी लिखा क्यों नहीं, किस विवशता के कारण उसे क्या-क्या नहीं करना पड़ा [illegible]!

[illegible] के ऊपर एक पोटली रखी थी।

"ए की ए [illegible]?" सुबह उसने पूछा तो माँ कपाल पर हाथ पटक-पटककर रोने लगी, "[illegible] ते मुकद्दर ही फुट गया कंचो! देवेन हरद्वार तूँ लौटदे समय बस्सो दे फुल छड्ड गया सी! कैन्दा सी जमना विच बहा देना...! मेरी याददाश्त ही ख़तम हो गयी कंचो! जदों तों मीचे लुधियाना [illegible] हथ-पाँ ही कट्ट गये...!"

कंचन ने पोटली खोली—कुछ राख थी, कुछ हड्डियों के फूल !

रेशमी कपड़े में उन्हें लपेटा कंचन ने और ढेर सारे फूलों के बीच उन्हें रखकर जमुना में प्रवाहित कर दिया ।

लहरों के बीच फूल धीरे-धीरे बिखर गये, पानी पर देर तक पाँखु-रियाँ तैरती रहीं ।

● ●